वर्ष ४३ अंक १० अक्तूबर २००५ मूल्य रु. ६.००
विवेक-ज्योति
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २००५

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक १०

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-
विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

भोगा भङ्गुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव-
स्तत्कस्येह कृते परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः ।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां
कामोत्पत्तिवशात् स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः ।।३९।।

अन्वय – बहुविधाः भोगाः भङ्गुर-वृत्तयः, तैः एव च अयं भवः, तत् रे लोका ! इह कस्य कृते परिभ्रमत? चेष्टितैः कृतं । यदि अस्मद्-वचः श्रद्धेयम्, काम-उत्पत्ति-वशात् आशा-पाश-शत-उपशान्ति-विशदं चेतः स्व-धामनि समाधीयताम् ।।

भावार्थ – यह संसार विविध प्रकार के क्षणभंगुर भोगों से मिलकर बना हुआ है और इन्हीं के कारण जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े रहना पड़ता है। हे मनुष्यो ! क्यों इसकी उपलब्धि के प्रयास में भटकते रहते हो ! बहुत हुआ। यदि हमारी सुनो, तो सारी आशाओं तथा कामनाओं को तिलांजलि देकर अनन्य अनुराग के साथ मन को अपने स्वरूप अर्थात् आत्मा में एकाग्र करो ॥

ब्रह्मेन्द्रादिमरुद्गणांस्तृणकणान् यत्र स्थितो मन्यते
यत् स्वादाद्विरसा भवन्ति विभवास्त्रैलोक्यराज्यादयः ।
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते
भो साधो क्षणभङ्गुरे तदितरे भोगे रतिं मा कृथाः ।।४०।।

अन्वय – यत्र स्थितः ब्रह्म-इन्द्र-आदि-मरुद्-गणान् तृणकणान् मन्यते, यत् स्वादात् त्रैलोक्य-राज्य-आदयः विभवाः विरसाः भवन्ति । सः एकः कः अपि परमः नित्य उदितः भोगः एव जृम्भते । भो साधो ! तत्-इतरे क्षण-भङ्गुरे भोगे रतिं मा कृथाः ।।

भावार्थ – जिसमें स्थित होने पर मनुष्य ब्रह्मा, इन्द्र, वायु आदि देवताओं को तृण के समान तुच्छ समझता है, जिस वस्तु की अनुभूति से तीनों लोकों के राज्य आदि वैभव भी नीरस प्रतीत होते हैं, वह नित्य प्रकाशित सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मानन्द का सुख ही चिर विद्यमान रहनेवाला है। अतएव हे साधो, अन्य क्षणस्थायी भोगों में प्रीति मत रखना।

– भर्तृहरि

भजन-गीति

– १ –

(राग-यमन ताल-कहरवा)

तुम्हारे द्वार आया हूँ, प्रभो मुझ पर दया कर दो।
कृपा कर कर-कमल को तुम, मेरे सिर पर जरा धर दो।।

नहीं कोई सखा-साथी, न है कोई सहारा ही,
सभी मतलब की दुनिया है, भरोसा है तुम्हारा ही।
अहैतुक स्नेह का निर्झर, बहा मुझमें निरन्तर दो।।

नचाती वासना मुझको, नहीं सुख-शान्ति जीवन में,
करूँ यह युद्ध मैं कैसे, नहीं विश्रान्ति तन-मन में।
सदा से मैं रखा खाली, तुम्हीं आकर इसे भर दो।।

नहीं आसान है जीना, बड़ा मुश्किल जमाना है,
तुम्हारे ध्यान-चिन्तन में, निहित सच्चा खजाना है।
उसी में चित लगे मेरा, यही अब तो मुझे वर दो।।

– २ –

(राग-नन्द ताल-कहरवा)

अजब है इस दुनिया की रीत
स्वारथ के सब नाते जोड़े, नाम दिया है प्रीत।।

क्षणभंगुर इस जग की माया,
पर नर इसमें ही भरमाया,
ममता में पड़कर निष्फल ही, होती आयु व्यतीत।।

दुर्लभ मानव जीवन पाया,
ढूँढ़ रहा पर कंचन-काया,
आकर मौत खड़ी जब होती, तब होता भयभीत।।

पंचभूत-जग को घर माना,
बिसर गया निज परम ठिकाना,
विषयों में फँसकर खो बैठा, चिर जीवन की मीत।।

संयत कर मन-काया-वाणी,
अन्तर में झाँको तो प्राणी,
नित 'विदेह' उठ रही वहाँ पर,
ध्वनि-अनहत संगीत।।

– विदेह

धर्मशिक्षा की आवश्यकता (४)

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान् विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमश: उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

विस्तार ही जीवन है

विस्तार ही जीवन का पहला और स्पष्ट लक्षण है। यदि जीवित रहना चाहते हो, तो तुम्हें विस्तार करना ही होगा। ... यह विस्तार राष्ट्रीय जीवन के पुनर्जागरण का सर्वमान्य लक्षण है और मानव-जाति की ज्ञान-समष्टि तथा समग्र विश्व की उन्नति में हमारा जो योगदान होना चाहिये, वह भी इस विस्तार के साथ भारत से बाहर अन्य देशों में जा रहा है। भारत का दान है धर्म, दार्शनिक ज्ञान और आध्यात्मिकता।[२०६] लेन-देन ही संसार का नियम है और यदि भारत को फिर उठना हो, तो यह परम आवश्यक है कि वह अपने रत्नों को बाहर लाकर पृथ्वी की जातियों में बिखेर दे और इसके बदले में वे जो कुछ दें, उसे सहर्ष ग्रहण करे। **विस्तार ही जीवन और संकुचन मृत्यु है; प्रेम ही जीवन और द्वेष ही मृत्यु है।**[२०७] आज भारत की सन्तानों पर यह महान् नैतिक जिम्मेदारी है कि वे मानवीय अस्तित्व की समस्या के विषय में संसार के पथ-प्रदर्शन के लिए स्वयं को पूरी तौर से तैयार कर लें।[२०८] आध्यात्मिकता पाश्चात्य देशों पर अवश्य विजय प्राप्त करेगी।[२०९]

साम्प्रदायिकता का दोष

हाय! हम लोग प्राय: निरर्थक वाग्जाल को ही आध्यात्मिक सत्य समझ बैठते हैं, विद्वत्ता से युक्त सुललित वाक्यों को ही गम्भीर धर्मानुभूति समझ लेते हैं। इसी से सारी साम्प्रदायिकता आती है, सारा विरोध-भाव उत्पन्न होता है। यदि हम इस बात को भलीभाँति समझ लें कि प्रत्यक्षानुभूति ही सच्चा धर्म है, तो हम अपने ही हृदय को टटोलेंगे और यह समझने की चेष्टा करेंगे कि हम धर्मराज्य के सत्यों की उपलब्धि की दिशा में कितना अग्रसर हुए हैं। और तब हम यह समझ जायेंगे कि हम स्वयं अन्धकार में भटक रहे हैं तथा साथ ही दूसरों को भी उसी अन्धकार में भटका रहे हैं। बस, इतना समझ लेने पर हमारी साम्प्रदायिकता और लड़ाई मिट जायेगी।[२१०]

साम्प्रदायिकता, हठधर्मिता और उनकी बीभत्स वंशधर धर्मान्धता इस सुन्दर पृथ्वी पर काफी काल तक राज्य कर चुकी हैं। वे पृथ्वी को हिंसा से भरती रही हैं, उसको बारम्बार मानवता के रक्त से नहलाती रही हैं, सभ्यताओं को विध्वस्त करती और पूरे देशों को निराशा के गर्त में डालती रही हैं। यदि ये बीभत्स आसुरी शक्तियाँ न होतीं, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हुआ होता।[२११]

भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शक्ति-समूहों के परिचालन हेतु सम्प्रदाय कायम रहें। पर जब हम देखते हैं कि हमारे प्राचीन शास्त्र इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि ये भेदभाव सतही हैं, दिख भर रहे हैं और इन सारी विभिन्नताओं के बावजूद इन्हें एक साथ बाँधे रहनेवाला परम मनोहर स्वर्ण-सूत्र इनके भीतर पिरोया हुआ है, तब इसके लिए हमें एक-दूसरे के साथ लड़ने-झगड़ने की कोई जरूरत दिखायी नहीं देती। हमारे प्राचीन शास्त्रों ने घोषणा की है – **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** – 'विश्व में विद्यमान एक ही सद्वस्तु का ऋषियों ने भिन्न-भिन्न नामों से वर्णन किया है।' अत: ऐसे भारत में, जहाँ सदा से सभी सम्प्रदाय समान रूप से सम्मानित होते आये हैं, यदि अब भी सम्प्रदायों के बीच ईर्ष्या-द्वेष और लड़ाई-झगड़े बने रहें, तो धिक्कार है हमें, जो हम अपने को उन महिमान्वित पूर्वजों के वंशधर बताने का दु:साहस करते हैं![२१२]

समन्वयाचार्य महामानव श्रीरामकृष्ण

अब एक ऐसे अद्भुत व्यक्ति के जन्म लेने का समय आ गया था, जिसमें हृदय और मस्तिष्क दोनों एक साथ विराजमान हों, जो शंकर के प्रतिभाशाली मस्तिष्क व चैतन्य के अद्भुत, विशाल, अनन्त हृदय का एकत्र अधिकारी हो, जो देखे कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से चालित हो रहे हैं और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है, जिसका हृदय भारत के या भारत के बाहर गरीब, दुर्बल, पतित सबके लिए द्रवित हो, लेकिन साथ ही जिसकी बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वों की परिकल्पना करे, जिनसे भारत में अथवा भारत के बाहर सब विरोधी सम्प्रदायों में समन्वय साधित हो और इस अद्भुत समन्वय द्वारा वह एक हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौम धर्म को प्रकट करे। एक ऐसे ही व्यक्ति ने जन्म लिया और मुझे वर्षों उनके चरणों में बैठकर शिक्षा पाने का सौभाग्य मिला। ... अत: आज मुझे भारत के सभी महापुरुषों के पूर्ण-प्रकाश-स्वरूप, युगाचार्य श्रीरामकृष्ण का उल्लेख

मात्र करना होगा। उनके उपदेश आज हमारे लिए विशेष हितकर हैं।[२१३] एक और बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा अद्‌भुत सत्य जो मैंने अपने गुरुदेव से सीखा, वह यह है कि संसार में जितने धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी या प्रतिरोधी नहीं हैं – वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्म के भिन्न-भिन्न भाव मात्र हैं।[२१४] उनके मुख से कभी किसी के लिए दुर्वचन नहीं निकले और न उन्होंने कभी किसी में दोष ढूँढ़ा। उनकी आँखें कोई बुरी चीज देख ही नहीं सकती थीं और न उनके मन में कभी बुरे विचार ही प्रवेश कर सकते थे। उन्हें जो कुछ भी दिखा, अच्छा ही दिखा।[२१५] उनका सारा जीवन साम्प्रदायिकता और कट्टरता को तोड़ने में ही व्यतीत हुआ।[२१६]

जितने मत उतने पथ

जो व्यक्ति जिस पथ पर चलने की इच्छा करे, उसे उसी पथ पर चलने देना चाहिए; क्योंकि यदि हम उसे दूसरे मार्ग पर घसीटने की चेष्टा करेंगे, तो वह अपने पास का भी सब कुछ खो बैठेगा; और पूर्णत: अकर्मण्य हो जायेगा। जैसे एक व्यक्ति का चेहरा दूसरे से भिन्न होता है, वैसे ही एक मनुष्य का स्वभाव दूसरे से भिन्न होता है। जिस देश में सबको एक ही पथ पर चलाने का प्रयास होता है, वह क्रमश: धर्महीन हो जाता है।[२१७] यदि हर व्यक्ति का धार्मिक मत एक हो जाय और हर कोई एक ही मार्ग का अवलम्बन करने लगे, तो संसार के लिए वह बड़ा बुरा दिन होगा। तब तो सभी धर्म और सारे विचार नष्ट हो जायेंगे, सब लोगों की स्वाधीन विचार-शक्ति और वास्तविक विचार-भाव नष्ट हो जायेंगे। वैचित्र्य ही जीवन का मूल सूत्र है। इसका यदि अन्त हो जाय, तो सारी सृष्टि का लोप हो जायेगा। विचारों में जब तक यह भिन्नता रहेगी, तब तक हम अवश्य जीवित रहेंगे।[२१८]

हमारे यहाँ कला हमारे धार्मिक जीवन का एक अंग बन गयी है। हमारे देश में कोई युवती तीज-त्योहार, पर्व-उत्सव के दिन यदि घर के आंगन और दीवार पर चावल के आटे से सुन्दर चित्र बनाना जानती है, तो उसकी कितनी प्रशंसा होती है! श्रीरामकृष्ण स्वयं कितने महान् कलाकार थे![२१९] अब हमें उपयोगिता और कला के समन्वय की आवश्यकता है। जापान यह समन्वय लाने जल्दी सफल हो गया और उसने अभूतपूर्व प्रगति कर ली।[२२०] चाहे जो भी क्रिया अथवा अनुष्ठान हो, यदि वह तुम्हें ईश्वर के समीप ले जा रहा है, तो उसे ग्रहण करो, यदि किसी मन्दिर में जाने से तुम्हें ईश्वर-लाभ में सहायता मिले, तो वहीं जाकर उपासना करो। परन्तु उन मार्गों पर विवाद मत करो। जिस समय तुम विवाद करते हो, उस समय तुम ईश्वर की ओर नहीं, बल्कि उल्टे पशुत्व की ओर चले जाते हो।[२२१] किसी से लड़ने की आवश्यकता नहीं है। अपना सन्देश दे दो तथा दूसरों को उनके भाव के साथ रहने दो। **सत्यमेव जयते नानृतम्** – 'सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं'; **तदा किं विवादेन** – 'तब विवाद से क्या प्रयोजन?'[२२२] यह धारणा कि प्रत्येक के लिए एक ही मार्ग है – हानिकर, निरर्थक और सर्वथा त्याज्य है।[२२३]

मैं आप लोगों को एक स्तोत्र की कुछ पंक्तियाँ सुनाता हूँ, जिसकी आवृत्ति मैं अपने बचपन से करता आया हूँ और जिसकी आवृत्ति प्रतिदिन लाखों व्यक्ति किया करते हैं –

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजु-कुटिल-नाना-पथजुषाम्।
नृणामेको गम्य: त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

– 'जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जानेवाले लोग अन्त में तुझमें ही जाकर मिल जाते हैं।'[२२४]

"प्रबल वायु बड़े वृक्षों से ही टकराती है। अग्नि को कुरेदने से वह अधिक प्रज्वलित होती है। साँप के सिर पर मारने से वह अपना फन उठाता है।" जब हृदय में पीड़ा उठती है, जब शोक की आँधी चारों ओर से घेर लेती है, जब लगता है कि प्रकाश फिर कभी न होगा, जब आशा और साहस का प्राय: लोप हो जाता है, तब इस भंयकर आध्यात्मिक तूफान में ब्रह्म की अन्तर्ज्योति जल उठती है। वैभव की गोद में पला हुआ, फूलों में पोसा हुआ, जिसने कभी एक आँसू भी नहीं बहाया, क्या ऐसा कोई व्यक्ति कभी बड़ा हुआ है, उसका अन्तर्निहित ब्रह्म-भाव कभी व्यक्त हुआ है?[२२५]

मैं पानी का एक छोटा-सा बुलबुला और तुम पर्वताकार तरंग हो सकते हो; तो भी क्या? वह अनन्त समुद्र, तुम्हारे ही समान मेरा भी आश्रय है। जीवन, शक्ति और आध्यात्मिकता के उस असीम सागर पर तुम्हारे समान ही मेरा भी अधिकार है। मेरे जन्म से ही, मुझमें जीवन होने से ही प्रमाणित हो रहा है कि तुम्हारे समान, चाहे तुम पर्वताकार तरंग ही क्यों न हो, मैं भी उसी अनन्त जीवन, अनन्त शिव और अनन्त शक्ति के साथ नित्य-संयुक्त हूँ। अत: भाइयो! तुम अपनी सन्तानों को उनके जन्म-काल से ही इस महान्, जीवनप्रद, उच्च तथा उदात्त तत्त्व की शिक्षा देना शुरू कर दो।[२२६]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

२०६. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) खण्ड ५, पृ. १६६-६७; **२०७**. वही, खण्ड ३, पृ. ३३२; **२०८**. वही, खण्ड ५, पृ. ३७; **२०९**. वही, खण्ड ५, पृ. १७१; **२१०**. वही, खण्ड ५, पृ. २६९; **२११**. वही, खण्ड १, पृ. ४; **२१२**. वही, खण्ड ५, पृ. २६३; **२१३**. वही, खण्ड ५, पृ. २६३; **२१४**. वही, खण्ड ७, पृ. २६१; **२१५**. वही, खण्ड ७, पृ. २६४; **२१६**. वही, खण्ड ४, पृ. २२८; **२१७**. वही, खण्ड ५, पृ. २५०; **२१८**. वही, खण्ड ५, पृ. ३०; **२१९**. वही, खण्ड ८, पृ. २३४; **२२०**. वही, खण्ड ८, पृ. २३५; **२२१**. वही, खण्ड ५, पृ. ३०; **२२२**. वही, खण्ड ४, पृ. ३१७; **२२३**. वही, खण्ड ५, पृ. ३०; **२२४**. वही, खण्ड १, पृ. ३-४; **२२५**. वही, खण्ड ७, पृ. ३६०; **२२६**. वही, खण्ड ५, पृ. २६७

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)
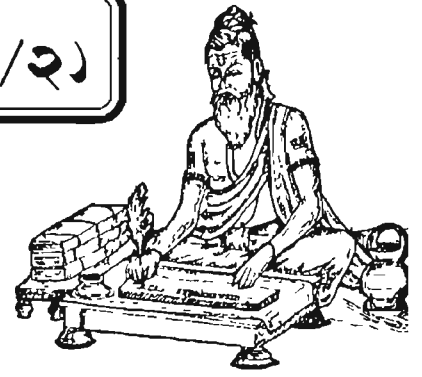
सीताजी का प्रभु-चरणों में परम अनुराग है। पर प्रभु उन्हें वन जाने से विरत करने हेतु बड़े साहित्यिक शब्दों में उनकी सुन्दरता – सुकुमारता की प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं – हे हंसगामिनी, तुम वन में चलने के योग्य नहीं हो। यदि मैं तुम्हें लेकर जाऊँगा, तो जानती हो कि मुझ पर कितना बड़ा कलंक लगेगा! लोग कहेंगे कि यह राजकुमार कैसा कठोर है, जो ऐसी सुकुमार राजकुमारी को वन में भटका रहा है। जरा सोचो कि जो हंसिनी मानसरोवर के मुक्ता को चुगनेवाली है, क्या वह खारे समुद्र के जल में रह सकती है? –

हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू।
सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू।। २/६३/५

उनकी सुकुमारता के साथ ही श्रीराम वन की भयावहता का भी वर्णन करते हैं – जानती हो! रास्ते में पड़नेवाली पर्वतों की गुफाएँ, खाइयाँ, नदियाँ, नद तथा नाले इतने अगम्य तथा गहरे हैं कि उनकी ओर देखा तक नहीं जाता। फिर भालू, बाघ, भेड़िये, सिंह तथा हाथी ऐसे भयानक शब्द करते हैं कि धैर्य साथ छोड़कर भाग जाता है। इन सब की याद आते ही धीर लोग भी डर जाते हैं और हे मृगनयनी, तुम तो स्वभाव से ही डरपोक हो –

कंदर खोह नदी नद नारे।
अगम अगाध न जाहिं निहारे।।
भालु बाघ बृक केहरि नागा।
करहिं नाद सुनि धीरजु भागा।। २/६२/७-८
डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ।
मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ।। २/६३/४

इसके बाद प्रभु कहते हैं – मैं तुम्हें तुम्हारे धर्म से विरत नहीं करना चाहता। यदि ऐसा लगता हो कि मैं तुम्हें पातिव्रत धर्म से हटकर उपदेश दे रहा हूँ, तो सुनो – जिन्होंने हमें जन्म दिया है, उन सास-ससुर की सेवा करना, और कौन-सा धर्म इससे बढ़कर हो सकता है? –

एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा।
सादर सासु ससुर पद पूजा।। २/६१/५

तो इस धर्म के लिए भी तुम्हें यहाँ रुक जाना चाहिए। और साथ ही मैं तुम्हें एक बहुत बड़ा भार देकर जा रहा हूँ, मैं जानता हूँ कि मेरी माँ मेरे वियोग में बड़ी व्याकुल होंगी। और तुम तो कथा कहने में बड़ी निपुण हो, अत: जब-जब वे व्याकुल हों, तब-तब तुम उन्हें कथाएँ सुनाकर धैर्य धारण कराओगी, इसी से मुझे सर्वाधिक प्रसनन्ता होगी –

जब जब मातु करिहि सुधि मोरी।
होइहि प्रेम बिकल मति मोरी।
तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी।
सुंदरि समुझाएहु मृदु बानी।। २/६१/६-७

इसके साथ ही थोड़ा डर भी दिखाते हुए प्रभु ने कहा – हठ करके मेरे साथ चलने पर मालूम है इसके परिणाम-स्वरूप तुम्हें क्या मिलेगा? केवल दुख मिलेगा। अब तुम्हीं निर्णय कर लो कि तुम क्या चाहती हो –

जौं हठ करहु प्रेम बस बामा।
तौ तुम्ह दुखु पाउब परिनामा।। २/६२/३

प्रभु की वाणी बड़ी स्नेहिल थी, भावपूर्ण थी, साहित्यिक थी। उसमें किशोरीजी की प्रशंसा में अनेक शब्द थे। परन्तु उसका उत्तर देते हुए जनकनन्दिनी ने जो कुछ कहा, वह भी बड़ा भावपूर्ण था। वे बोलीं – "आपने कहा कि मैं सुकुमारी हूँ और मैं समझती थी कि आपके जैसा कोमल वाणी बोलने वाला कोई दूसरा नहीं है, पर आज निश्चय हो गया कि ये दोनों बातें सही नहीं हैं।" – क्या हुआ, मैंने क्या कठोर कह दिया? वे बोलीं – आपके वचन जरा भी कोमल नहीं हैं, अति कठोर हैं और यदि मेरा हृदय फट नहीं गया तो मैं कैसी कोमल हूँ! यदि मैं सचमुच कोमल होती तो आपके इन कठोर शब्दों को सुनकर ही मेरे प्राण निकल जाने थे –

ऐसेउ बचन कठोर सुनि,
जौं न हृदय बिलगान।। २/६७

और साथ ही कहा – चलिए, जब सिद्ध हो गया कि मैं कोमल नहीं हूँ, तो आपका यह भय भी दूर हो जाना चाहिए कि मैं वन के कष्ट नहीं झेल सकूँगी। जब आपके शब्दों की कठोरता सह सकती हूँ, तो वन के कष्ट भी सह लूँगी। फिर कहा – मैंने सुना था कि आप किसी की निन्दा नहीं करते, पर आप मेरी कितनी बड़ी निन्दा कर रहे हैं? बड़ा आश्चर्य हुआ। प्रभु प्रशंसा कर रहे हैं या निन्दा? और तब सीताजी ने

कहा कि जब आपने कहा – सीते, तुम तपस्या के योग्य नहीं हो, तो मैं पूछना चाहती हूँ कि यदि मैं सुकुमारी हूँ, तो आप सुकुमार नहीं है क्या? क्या आप वन में रहने योग्य हैं? –

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। २/६७/८

मानो याद दिलाया – मैं पृथ्वी-पुत्री हूँ, भला सुकुमारी कैसे हो सकती हूँ! पृथ्वी तो सब सहने की अभ्यस्त है –

धरनिसुताँ धीरजु धरेउ ।। २/२८६

– "महाराज, मत भूलिए कि आपकी सुकुमारता को तो मेरी सखियों ने प्रत्यक्ष देखा। जब आपने पुष्पवाटिका में फूल चुने, तो उतने से ही आपको पसीना आ गया, तो इसी से पता चल गया कि आप कितने सुकुमार हैं। तो जब आप जैसा सुकुमार कष्ट उठा सकता है, तो मैं क्यों नहीं उठा सकती! यह आप मेरी प्रशंसा कर रहे हैं या निन्दा? और आपने जो कहा कि आपको तो तपस्या और मुझे भोग उचित है – इसमें भी मेरा बहुत बड़ा अपमान है –

तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू ।। २/६७/८

– तो क्या जो व्यक्ति भोगों में रहता है, वह बड़ा अच्छा है? और जो तपस्या कर रहा है, वह निकृष्ट कार्य रहा है? तप और भोग में से आप मुझे भोग का उपदेश दें – आपके श्रीमुख से ऐसे वाक्य की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी। प्रभु समझ गये कि इन्हें बलपूर्वक यहाँ छोड़ जाने पर ये प्राण त्याग देंगी, अत: वे कुछ बोले नहीं –

हठि राखें नहिं राखिहि प्राना। २/६८/२

प्रभु मौन हो जाते हैं। ठीक है, तुम नहीं मानती, तो मेरे साथ चलो। वे गईं और चित्रकूट में रहीं। भगवान ने तो यह भी बता दिया था कि यहाँ जो छप्पन प्रकार के व्यंजन मिलते हैं, वे सब वहाँ नहीं मिलेंगे। वहाँ तो कन्द, मूल, फल पर निर्भर रहना होगा और यह भी नहीं कि जब आवश्यकता हुई बाजार से खरीद कर मँगवा लिया। वन में जब जो ऋतु होगी, उसका जो फल होगा, वही मिलेगा –

ते कि सदा सब दिन मिलहिं
सबुइ समय अनुकुल ।। २/६२

और सीताजी जब वन में जाती हैं, तो वहाँ श्रेष्ठ रेशमी वस्त्रों को उतारकर साधारण वल्कल वस्त्र धारण कर लेती हैं और एक तपस्विनी के रूप में कन्द-मूल-फल सेवन करती हैं। प्रभु के बैठने के लिए वे अपने हाथों से विशाल वेदी बनाती हैं, जिस पर बैठकर भगवान मुनियों से सत्संग करते हैं। सीताजी और लक्ष्मणजी उस आश्रम में पौधे लगाते हैं –

तुलसी तरुवर बिबिध सुहाए।
कहुँ कहुँ सीय कहुँ लखन लगाए।। २/२३७/७

पौधे लगाने में कष्ट तो हुआ होगा। अभ्यस्त व्यक्ति को कष्ट नहीं होता, पर सीताजी को अभ्यास नहीं था, कष्ट तो हुआ होगा? गोस्वामीजी कहते हैं – कष्ट कैसा? अयोध्या में उन्हें जितना सुख मिलता था, वन में उन्हें उससे हजार गुना सुख मिल रहा था। – ऐसा कैसे हो सकता है? और तब वे बताते हैं – सीताजी अनुरागमयी हैं, उनका मन प्रभु के अनुराग में इतना सराबोर है कि बहिरंग वस्तुओं का कोई आकर्षण या प्रलोभन उन्हें अपनी ओर खींच ही नहीं पाता –

सिय मनु राम चरन अनुरागा।
अवध सहस सम बनु प्रिय लागा ।।
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा।
प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा ।। २/१४०/४-५

वे बोलीं – आपने सास-ससुर की सेवा करने को कहा था न, पर क्या आप मानते हैं कि मेरे सास-ससुर केवल अयोध्या में ही रहते हैं? जितने मुनि हैं, वे सभी मेरे ससुर हैं और जितनी मुनि-पत्नियाँ हैं वे सभी मेरी सास हैं –

सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर। २/१४०/६

इस प्रकार से इतनी सेवा करने के बाद भी जिन्हें कष्ट की अनुभूति नहीं हो रही है, वह वस्तुत: अनुराग का ही परिणाम है। उनका अन्त:करण अनुराग में इतना डूबा हुआ है कि वहाँ पर संसार का आकर्षण उनको कहाँ आकृष्ट कर सकता है और इसीलिए जब महाराज जनक चित्रकूट में आए और अपनी पुत्री को देखा – जिस पुत्री को उन्होंने रत्नाभूषण से सुसज्जित करके, रेशमी वस्त्रों में सजाकर विदा किया था, उसे तपस्विनी के वेष में देखा, तो उस समय उनकी दशा क्या हुई? महाराज जनक आनन्द में सराबोर हो गये –

तापस बेष जनक सिय देखी।
भयउ पेमु परितोषु बिसेषी ।। २/२८७/१

साधारणतया व्यक्ति रुष्ट हो जाता है कि इतनी सुखों के बीच पली हुई मेरी बेटी को इतना कष्ट दिया जा रहा है! परन्तु उन्होंने विशेष सन्तोष तथा स्नेह के साथ कहा – पुत्री, मैं मानता हूँ कि तुमने दोनों कुलों को पवित्र कर दिया –

पुत्रि पबित्र किए कुल दोऊ।
सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ ।। २/२८७/२

बड़ी अटपटी बात है। यदि कहते कि तुमने मेरे कुल को पवित्र कर दिया, तो ठीक था। पर श्रीराम के कुल में ऐसी क्या अपवित्रता है, जिसे सीताजी ने दूर कर दिया हो? बड़ी सांकेतिक भाषा में जनकजी ने कहा – अयोध्या के राजकुल में महारानी कैकेयी ने जो कलंक लगा दिया था, उसे तुम्हारा त्याग ही धो सकता था। संसार को यह भ्रम हो जाता कि नारी इतनी निष्ठुर हो सकती है, इतनी स्वार्थी हो सकती है, पर तुमने तो अपने इस कार्य के द्वारा मेरे कुल को ही नहीं, अपितु इस रघुवंश की अमर्यादा को भी दूर कर दिया।

इसके बाद वे उनकी गंगाजी से तुलना करते हुए कहते हैं – पुत्री, गंगा हिमालय में जितनी उज्ज्वल दिखाई देती हैं, पृथ्वी पर उतनी उज्ज्वल नहीं दिखतीं, मटमैली हो जाती हैं।

पर मटमैली गंगा को देखकर क्या किसी को लगता है कि ये मटमैली हैं? वह तो गंगा को देखते ही गद्गद हो जाता है। यदि यह गंगा हिमालय पर ही रहतीं, तो हम उनसे वंचित रह जाते, पर वे हम पर दया करके धूल में आ गईं, मिट्टी में आ गईं, मिट्टी और धूल में सनकर भी वे हमें पवित्र कर रही हैं। इसी तरह, पुत्री ! तुम महल में रहकर स्वयं तो सुखों से घिरी, दिव्य महारानी-जैसी लगती थी, परन्तु यह जो तुम्हारा तपस्विनी का वेष है, इसमें आकर आज तुम गंगा के समान सबको पवित्र कर रही हो।

और कहा जाता है कि वैसे तो गंगा सर्वत्र धन्य हैं, पर तीन स्थानों में वे विशेष रूप से धन्य हैं – हरिद्वार, प्रयाग और गंगासागर में – **हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागर-संगमे**। परन्तु तुमने तो अपने चरित्र और साधना के द्वारा अनेक सन्त-समाज रूपी तीर्थों का निर्माण कर दिया है –

गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे ।
एहिं किए साधु समाज घनेरे ।। २/२८७/४

जब हमारे अन्तःकरण में प्रभु-चरणों के प्रति अनुराग पैदा होता है, तो विराग के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, साधना नहीं करनी पड़ती। तब वह वैराग्य तो स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाता है। और इसलिए यह जो दृश्य है, मानो एक ओर विराग-लक्ष्मण और दूसरी ओर अनुरागमयी सीताजी हैं। अब आप चाहें तो वैराग्य के द्वारा अनुराग की दिशा में बढ़ें या फिर अनुराग के माध्यम से सहज रूप में विराग की उपलब्धि कर लें। दोनों प्रकार की बात शास्त्र में है। और सच पूछिए तो भक्त ऊपर से विरागी और भीतर से अनुरागी होता है।

जैसे रामायण में श्रीभरत महानतम विरागी हैं, कहा गया है कि अयोध्या के राज्य में श्रीभरत बिना राग के वास करते हैं। कैसे? जैसे भौंरा चम्पा के बाग में निवास करता है –

अवध राजु सुर राजु सिहाई ।
दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ।।
तेहिं पुर बसत भरतु बिनु रागा ।
चंचरीक जिमि चंपक बागा ।। २/३२३/६-७

भौंरे को चम्पे के बाग में देख लें, तो लगता है कि यह कितना विरागी है, सुगन्ध में उसका ज्यादा आकर्षण नहीं है, पर इस भौंरे का यह दूसरा रूप देख लीजिए। भरत-रूपी भौंरा अयोध्या के राज्य में विरागी है और यही लोभी भँवरा राम के चरणों को छोड़कर कहीं जाता ही नहीं –

राम चरन पंकज मन जासू ।
लुबुध मधुप इव तजइ न पासू । १/१७/४

यहाँ पर 'लोभी' शब्द है और इसका अभिप्राय यही है कि विरागी भी अन्तर्हृदय में भगवान का रागी ही होता है। बड़ी मीठी बात आती है। जब त्रिवेणी ने कहा – आप कुछ तो माँगे ! तो उन्होंने कहा – अर्थ भी नहीं, धर्म भी नहीं, काम भी नहीं और मोक्ष भी नहीं, चारों फल नहीं चाहिए –

अरथ न धरम न काम रुचि
गति न चहउँ निरबान । २/२०४

लगा, कितने बड़े विरागी हैं ! पर यों समझे, कोई आपके यहाँ पधारे और आप उनसे कहें – सेव ले लीजिए। – नहीं लेंगे। – तो केला ! – केला भी नहीं लेंगे। – सन्तरा? – सन्तरा भी नहीं लेंगे। – अँगूर? कहा – अँगूर भी नहीं लेंगे। – अरे, इन्होंने तो सारे फलों का त्याग कर दिया। पर जब उनसे अनुरोध किया गया कि आप कुछ तो लीजिए, तो बोले – बस, कुछ फलों का रस दे दीजिए, फल नहीं चाहिए। तो उनसे बढ़कर चतुर कौन होगा? लगता है कि फलों को छोड़ दिया है, अरे फलों में छिलका और गुठली आदि भी तो हैं, परन्तु जो केवल रस-ही-रस ले रहा है, उसको क्या कहें? – विरागी या अनुरागी। इसलिए पता चला कि भरतजी विरागी दिख जरूर रहे थे, पर रस माँग लिया। – कैसे? कहा – जन्म-जन्म में मेरी श्रीराम के चरणों में रति हो, केवल यही वरदान चाहिये, दूसरा कुछ भी नहीं –

जनम-जनम रति राम पद,
यह बरदानु न आन ।। २/२०४

रति क्या है? इसका उत्तर मानस में मिल जायेगा। यह संत-सभा ही अमराई है, श्रद्धा वसन्त ऋतु है, नाना प्रकार के सत्कर्म बौर हैं, ज्ञान ही फल है और भगवान के चरणों में जो रति है, वही मानो रस है –

संत सभा चहुँ दिसि अवँराई ।
श्रद्धा रितु बसन्त सम गाई ।।
सम जम नियम फूल-फल ग्याना ।
हरि पद रति रस बेद बखाना ।।१/३६/१२,१४

भरतजी कितने अच्छे विरागी हैं? – कुछ नहीं, बस रति चाहिए। रति अर्थात् केवल रस-ही-रस चाहिए। छिलका, गुठली आदि तो अन्य लोग, जो इसके प्रेमी हों, लेते रहें। पर भक्त तो इतने चतुर-स्वार्थी होते हैं, इतने रागी होते हैं कि वे केवल रस-ही-रस चाहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि हम केवल साधना करके अपने जीवन में भक्ति या वैराग्य लाना चाहें और उसके बाद भगवान हृदय में सक्रिय हों, तो यह बड़ी लम्बी साधना है। पर यह रामकथा ऐसी है कि आप तो बस – इसे निरन्तर सुनते रहें।

एक महात्मा ने बताया था। वे कहीं प्रवचन देने गये। वहाँ के लोगों का बड़ा आग्रह था। लोगों की बड़ी भीड़ हुई। प्रवचन शुरू हुआ। थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा कि एक-एक श्रोता उठ-उठकर चला जा रहा है। पर उन्हें आश्चर्य इस बात पर हुआ कि श्रोता उठकर तो जा रहे हैं, पर घर नहीं जा रहे हैं। वहाँ से थोड़ी दूरी पर उनकी भीड़ इकट्ठी होती जा रही है। पण्डाल लगभग खाली हो गया। दो-चार लोग जो बेचारे

असमर्थ थे, वे ही बैठे रह गये। उन्होंने पूछा – क्या हुआ? उत्तर मिला – कबड्डी का खेल शुरू हो गया है। यदि ऐसे श्रोता मिल जायँ, जो कथा सुनते-सुनते उसे बीच में ही छोड़ कर कबड्डी या अन्य कुछ देखने चले जाते हैं, उनके हृदय में क्या भगवान निवास करेंगे? बहुतों के लिये तो मनोरंजन के अनेक साधनों में कथा भी एक है। कथा को भी मनोरंजन का साधन समझनेवाला कथा का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर रहा है। परन्तु धन्य है वह, जो समझ गया है कि कथा सुनने से ही वैराग्य आ जायेगा, भक्ति आ जायेगी और ज्ञान भी आ जायेगा – सब आ जायेगा। बस, निरन्तर कथा-श्रवण के द्वारा हमारे हृदय में एक पिपासा बनी रहे।

कथा कितनी प्रिय वस्तु है! इसीलिये आप देखेंगे कि रामायण में कथा-विषयक अनेक प्रसंग आते हैं। लगता है कि सचमुच, कथा के द्वारा क्या सम्भव नहीं है! हनुमानजी महान् योद्धा हैं, विजेता हैं, सब कुछ हैं, पर कथा के द्वारा उन्होंने जो कार्य किया, वह लड़कर भी नहीं किया। सुग्रीवजी विषय-वासना में डूबकर भगवान की, उनके कार्य की सुधि भूल गये हैं, तब क्या उपाय है? हनुमानजी ने जाकर विचार किया – प्रभु के कार्य को सुग्रीव ने भुला दिया है –

इहाँ पवनसुत हदयँ बिचारा।
राम काजु सुग्रीवँ बिसारा।। ४/१९/१

– क्या करें? उन्होंने सुग्रीव को राजा के रूप में स्वीकार किया है, अतः उन्हें दण्ड देने का अधिकार उन्हें नहीं है। हनुमानजी पहुँच गये। सुग्रीव ने उन्हें देखा और स्वागत किया। हनुमानजी के उन पर बड़े उपकार हैं। पूछा – कैसे कष्ट किया? बोले – सोचा, आपको कथा सुना दें। सुग्रीव ने कहा – ठीक है, आप सुनायेंगे तो सुनना ही पड़ेगा।

यहाँ पर एक बात और आती है – भगवान की विभिन्न कथाएँ विभिन्न नदियों की भाँति हैं। अर्थात् कथा का कोई एक रूप नहीं है। गंगा के रूप में, यमुना के रूप में सरस्वती के रूप में, नर्मदा के रूप में, कावेरी के रूप में, गोमती के रूप में – कथा के ऐसे अनेक रूप हैं। और आज हनुमानजी ने जो सुन्दर कथा सुनाई, वह राजनीतिमयी कथा थी। हनुमानजी का कोई अपना स्वार्थ तो था नहीं, राजनीति से उन्हें कुछ भी लेना-देना नहीं था, लेकिन उन्होंने सुग्रीव को साम-दाम-दण्ड-भेदमयी कथा सुनाई।

सबसे पहले उन्होंने साममयी कथा सुनाई। वे बोले – "कपीश्वर सुग्रीव, आपको स्मरण होगा, प्रभु ने जब आप से मित्रता की थी, तो उन्होंने क्या कहा था?" सुग्रीव को याद आ गया कि प्रभु ने उन्हें मैत्री का उपदेश दिया था। – तो आप सोचिए, जब किसी से कुछ कहा जाय, तो यह मानकर कहा जाता है कि उसने ध्यान से सुना होगा। भगवान ने यही कहा था न कि जी मित्र के दुख को देखकर दुखी नहीं होता, उसकी ओर देखने मात्र से बढ़कर कोई पाप नहीं है। और यदि ऐसा कोई कुमित्र हो तो उसे त्याग देना चाहिए –

जे न मित्र दुःख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।। ४/७/१
आगें कह मृदु बचन बनाई।
पाछें अनहित मन कुटिलाई।।
जा कर चित अहिगति सम भाई।
अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई।। ४/७/७-८

– याद कर लीजिए। विचार कीजिए। और हनुमानजी वहीं नहीं रुक गये। कथा को दूसरा मोड़ दे दिया। सोचिए – आपने सीताजी का पता नहीं लगाया और इस पर भी उन्होंने आपको राज्य दे दिया। आपने उनसे केवल मित्रता की और राज्य मिल गया; तो जब प्रभु का कार्य कर देंगे, तो न जाने क्या मिलेगा? मगर दाम के बाद आ गये भेद पर। हनुमानजी ने आगे कहा – क्या आपने विचार करके देखा? यदि आप परम्परा की मर्यादा मानते, तो अपने पुत्र को युवराज बनाते। परन्तु आपको राजा बनाकर भी प्रभु ने युवराज अंगद को बनाया। वे बहुत बड़े राजनीतिज्ञ हैं, आपको पूरा अधिकार नहीं दिया है। और आपको याद होगा, उन्होंने कहा था – तुम अंगद के साथ मिलकर राज्य करो –

अंगद सहित करहु तुम राजू।। ४/११/९

और आप तो जानते ही हैं कि युवराज के राजा बन जाने पर क्या होता है! हनुमानजी की कथा सुनकर सुग्रीव इतने डर गए कि कहने लगे – प्रभु ने जब बालि पर बाण चलाया और जब वह जाकर बालि के वक्ष पर लगा, उसके बाद वह बाण कहाँ चला गया? बोले – लौटकर प्रभु के तरकस में आ गया। – क्यों आ गया? योद्धाओं के बाण तो जाते हैं और लगकर वहीं धँस जाते हैं। सुग्रीव बोले – कथा में पहले आपने कहा था कि भगवान इतने शरणागत-वत्सल हैं कि वे किसी को किसी कार्य से दूर भेजते भी हैं, तो उसे पुनः वापस अपने पास बुला लेते हैं। तो मैंने सोचा कि बाण को भेजा था, पर फिर प्रेम से वापस बुला लिया। हनुमानजी बोले – नहीं, मुझे तो कुछ और ही लग रहा है। कथा का अर्थ बदल गया। – क्या? हनुमानजी बोले – प्रभु ने सोचा होगा कि आज बालि को बाण से मारना पड़ा और यदि कल सुग्रीव भी उसी तरह करने लगा, तो उसके लिए बाण रख लेना ही ठीक होगा। वह बाण उन्होंने आपके लिए रखा है। हनुमानजी ने ऐसी-कथा सुनाई कि सुग्रीव काँपने लगे –

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना।। ४/१८/३

कथा निर्भय बनाती है और भयभीत भी बनाती है। वैसे कथा सुनकर निर्भयता ही उत्पन्न होती है। भगवान यदि रक्षक हैं, तो निर्भय हो जाइए। प्रभु कहते हैं – निर्भय हो जाओ –

निर्भय होहु देव समुदाई।। १/१८७/७

प्रश्न उठता है कि कथा निर्भय बनाती है या भय उत्पन्न करती है? कथा दोनों करती है। **कथा के द्वारा व्यक्ति एक ओर निर्भय भले ही हो जाय, पर दूसरी ओर भगवान का भय बना रहे।** यह परम आवश्यक है। दोनों बातें ठीक हैं। हनुमानजी ने पहले कथा के द्वारा ही सुग्रीव को निर्भय बनाया था – प्रभु मित्र हो गये हैं, अत: तुम निर्भय हो जाओ। और अब डरा दिया – भूल गये हो? और कथा का इतना प्रभाव! कितना वैराग्य आ गया! सुग्रीव कहते हैं – हनुमानजी, आपने कथा सुनाकर बड़ी कृपा की। मैं विषय-वासना में सब भूल गया था। अब आप देर मत कीजिए, तत्काल बन्दरों को बुलाकर आज्ञा दीजिए, सीताजी की खोज में लगाइए –

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना।
विषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना ।। ४/१९/३

इधर हनुमानजी ने जो व्याख्या की, उधर प्रभु भी वही कह रहे हैं – सुग्रीव चार महीने तक नहीं आया, सोचता हूँ कि जिस बाण से मैंने बालि को मारा था, उसी से सुग्रीव को भी मारना है –

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ।। ४/१८/५

हनुमानजी की व्याख्या सत्य हो रही है, पर शब्द था – कल मारूँगा। प्रभु ने ऐसा सुन्दर नाटक किया कि लक्ष्मणजी को लगा – आज सचमुच ही प्रभु को क्रोध आ गया है –

लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना ।। ४/१८/८

लक्ष्मणजी को बड़ा आश्चर्य हुआ और प्रसन्नता भी हुई। लक्ष्मण जब कभी प्रभु को क्रोध करते देखते हैं, तो बड़े प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न क्यों होते हैं? प्रसन्न इसलिए हुए कि चलो, किसी बुरे कार्य करनेवाले को दण्ड देने के लिए प्रभु में क्रोध तो आया। इतने उदार हैं कि क्रोध ही नहीं आता। इनके क्रोध न करने से जीवों को मनमानी करने का स्वभाव बन जाता है। प्रभु क्रोध करें। तभी ये लोग ठीक रहेंगे।

पर एक शब्द खटकता है, कह रहे हैं – कल मारूँगा। कल क्यों? क्या कोई योजना बनानी हैं? बस, बाण चलाकर मार देना है। और क्या मारने के लिए यह आवश्यक है कि प्रभु ही मारें और उसी बाण से मारे? प्रभु! यह कार्य मुझे दे दीजिए, मैं करूँ। – ठीक है, तुम्हीं करो।

लेकिन लक्ष्मणजी जब धनुष-बाण लेकर चले, तो प्रभु मुस्कुराने लगे। पता चला कि यह नाटक चल रहा था। प्रभु ने लक्ष्मण से कहा – क्या तुम समझते हो कि मैं मित्र को मारूँगा? लक्ष्मणजी बोले – आपने अपने मुख से तो यही कहा कि मारूँगा। – अरे, मारने का रूप भी तो तरह-तरह का होता है न! किसी को बाण से मारा जाता है और किसी को बस डरा दिया जाता है। इसी से वह मरे जैसा – अधमरा हो जाता है। सुग्रीव को तो बस थोड़ा-सा डराना भर है। इतना निर्भय हो गया है कि मुझे ही भूल गया। तो तुम जाओ और जाकर उसको थोड़ा डरा दो। तुम्हें धनुष-बाण लेकर आते देखेगा, तो डर जायेगा।

लक्ष्मणजी जब चलने लगे, तो उन्होंने फिर मुस्कुराकर कहा – यह न भूलना कि वह जितना डरपोक है, उतना ही भगोड़ा भी है। उसे ऐसा न डरा देना कि कहीं और भाग जाय। वह मित्र है न, उसे भय दिखाकर इधर ही ले आओ –

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुनासींव।
भय देखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव ।। ४/१८

लक्ष्मण क्रुद्ध होकर चले। भगवान ने क्रोध छोड़ दिया है, तो भी लक्ष्मणजी की आँखें लाल हैं। धनुष-बाण लेकर पहुँच गये। वहाँ कथा समाप्त हो चुकी थी। हनुमानजी ने बन्दरों को चारों ओर से बाकी सभी बन्दरों को बुला लाने को भेज भी दिया था। तभी लक्ष्मणजी पहुँच गये और सुग्रीव को जैसे ही सूचना मिली कि लक्ष्मणजी आए हैं, तो बेचारे इतने घबराये कि पूछा – प्रभु भी आए हैं? – नहीं। – तब तो मैं नहीं जाऊँगा। उसके बाद उन्होंने हनुमानजी की ओर देखा और बोले – तुम तो बोलने में ऐसे चतुर हो, जाकर जरा ऐसा बढ़िया समझा दो कि उनका क्रोध शान्त हो जाय –

सुनु हनुमन्त संग लै तारा।
करि बिनती समुझाउ कुमारा ।। ४/२०/३

हनुमानजी चले। वहाँ पर सूत्र बहुत सुन्दर है। हनुमानजी जाकर कह सकते थे – सुग्रीव से भूल हो गई, क्षमा कर दीजिए, सुग्रीव में कमी है, पर मैं आपसे कहता हूँ कि अब आगे उनसे भूल नहीं होगी, आदि। पर उन्होंने वह सब नहीं कहा। जानते थे कि लक्ष्मणजी से इतना सब कहने की

जरूरत नहीं है। हनुमानजी को पता था कि इन्हें कैसे मनाया जा सकता है। गये और जाकर लक्ष्मणजी को प्रणाम किया। इसके बाद वे कहने लगे – आपको कथा सुनाना चाहता हूँ। अद्भुत हैं ! मनाने की जगह उन्हें प्रभु की कथा सुनाने लगे –

चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना ।। ४/२०/४

कितने चतुर हैं, जानते हैं कि कथा सुनते ही सब भूल जाएँगे कि मैं क्या करने आया था। जानते हैं कि प्रभु की कथा में बड़ा रस है और सचमुच रस की ऐसी अनुभूति हुई कि हनुमानजी सुनाते-सुनाते लक्ष्मणजी को भीतर ले आए। और लक्ष्मणजी के चरण धोकर पलंग पर बैठा दिया –

चरन पखारि पलँग बैठाए ।। ४/२०/५

कथा चल रही थी और इसका मानो कितना दिव्य प्रभाव पड़ा कि लक्ष्मण को पलँग पर बैठाकर हनुमानजी ने केवल संकेत से सब कह दिया। बोले – महाराज, मैं जानता हूँ कि आप कभी नहीं सोते। आपके जीवन में तमोगुण का प्रवेश नहीं है, पर यहाँ तो सोनेवालों का नगर है। इसलिए यहाँ आपके बैठने के लिए व्याघ्र-चर्म का आसन नहीं है, यह पलंग ही है, इसी पर बैठिए। यहाँ के सोनेवाले लोग आपको पलंग पर ही तो बिठा सकते हैं। और तब आँखें मिलीं।

लक्ष्मणजी बोले – क्या आप यह कहना चाहते हैं कि मैं भी सो जाऊँ। – नहीं महाराज, आपको कहाँ नींद आयेगी? आप तो समस्त विषय-वासनाओं से मुक्त हैं, बल्कि आपको देखकर तो दूसरों की नींद भाग जायेगी। – क्यों? बोले – सोने जायँ और कमरे में साँप निकल आये, तो क्या नींद आयेगी? एक मुँहवाले साँप को देखकर ही तो नींद भाग जाती है और जहाँ सहस्र-शीर्ष वाला सर्प आकर पलंग पर ही बैठ जाय, तो क्या कोई उस पलंग पर सो सकता है? आप पलंग पर ही बैठिए, फिर कोई नहीं सोयेगा।

लक्ष्मणजी को कथा में ऐसा आनन्द आया कि भूल ही गये कि डराना भी है। धनुष-बाण तो रखा ही रह गया और हनुमानजी और लक्ष्मणजी – दोनों जब सुग्रीव को लेकर गये तो कोई प्रश्नोत्तर नहीं हुआ – क्यों नहीं आए, कैसे नहीं आए? सुग्रीव का प्रभु से मिलन हो गया। इसके बाद सुग्रीव कहने लगे – मैं क्या करूँ, ये काम, क्रोध, लोभ आदि ऐसे प्रबल हैं कि व्यक्ति को परास्त कर देते हैं –

नारि नयन सर जाहि न लागा ।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।।
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया ।
सो नर तुम्ह समान रघुराया ।। ४/२१/४-५

पर यहाँ भगवान को उलाहना भी दे दिया। बोले – महाराज, व्यक्ति अपने बल से तो काम-क्रोध-लोभ पर विजय नहीं पा सकता। आपकी कृपा से कोई-कोई पा लेता है –

यह गुन साधन तें नहिं होई ।।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ।। ४/२०/६

इसका निहितार्थ यह हुआ कि आपने कृपा की होती, तो विकार छूट गया होता। नहीं की, तो विकार बने हुए हैं। सारा दोष भगवान के मत्थे मढ़ दिया। जो प्रभु सुग्रीव को डराने-धमकाने का और न जाने क्या-क्या नाटक कर रहे थे, मुस्कुराने लगे। बोले – सुग्रीव, तुम क्या कहते हो? मुझे तो भरत और तुममे कोई अन्तर ही नहीं दिखता –

तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ।। ४/२०/७

प्रभु का ऐसा अद्भुत प्रेममय, करुणामय हृदय है कि उन्हें भरत और सुग्रीव में अन्तर न दिखाई देता। उसके बाद प्रभु ने एकान्त में लक्ष्मण से पूछा – तुमसे मैंने कहा कि डरा करके ले आना, तुमने कैसा डराया, जरा बताओ तो? लक्ष्मण बोले – महाराज, मैं गया तो था, पर यह काम दूसरे सज्जन ने पूरा कर दिया था। – किसने? बोले – जिन्हें आपने प्रथम भेंट के समय मुझसे दूना प्रिय बता दिया था –

तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना । ४/२/७

जो काम मैं बाण से करनेवाला था, उसे उन्होंने कथा से पूरा कर दिया, फिर मैं क्या करता। और सचमुच, शब्दों के द्वारा ही, केवल कथा सुना करके ही काम हो गया। सुग्रीव के जीवन में फिर कभी विषय का राग पैदा नहीं हुआ। इसका अर्थ यही है कि वैराग्य, भक्ति, ज्ञान आदि गुणों को अलग-अलग पाने के लिए बड़ा कठोर प्रयास करना पड़ता है, परन्तु यदि कोई तन्मयतापूर्वक प्रभु की मंगलमयी कथा सुने, तो वैराग्य, भक्ति, ज्ञान और दूसरा भी ऐसा कोई गुण नहीं है, जो उस व्यक्ति के जीवन में न आ जाय। पर सुने तो कानों को समुद्र के समान अतृप्त बनाकर –

जिनके श्रवण समुद्र समाना ।

❖ (क्रमशः) ❖

विजय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(श्री संत गजानन संस्थान अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द जी पिछले कई वर्षों से वहाँ के विद्यार्थियों के मध्य व्याख्यान देने जाते रहें हैं। कभी-कभी उन्होंने वहाँ के विद्यार्थीयों केलिये अंग्रजी भाषा में व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी कार्यशालाएँ भी आयोजित की थीं, जिनमें दिये गये कुछ व्याख्यानों को उक्त महाद्यिालय ने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। उन्हीं में से एक पुस्तिका "Born to Win" का रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, के ब्रह्मचारी जगदीश ने 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हिन्दी में अनुवाद किया है। - सं.)

संयम और अनुशासन

संयम एवं अनुशासन हमारे अन्तरतम में विद्यमान नित्यानन्दमय आत्मा तक पहुँचने के राजपथ हैं। यह आत्मा हमसे पृथक् नहीं है। जब तक हम इस महिमान्वित आत्मा का संस्पर्श नहीं प्राप्त कर लेते, जब तक विश्व एवं आत्मा के एकत्व की हमें अनुभूति नहीं होती है, जब तक हम यह अनुभव नहीं कर लेते कि 'मैं' ही 'वह' हूँ और 'वह' ही 'मैं' है, तब तक यह युद्ध चलता रहेगा एवं विजय हमसे बहुत दूर होगी और इस तरह शांति एवं सुख हमसे दूर रहेंगे।

अतः आत्म-निरीक्षण के पश्चात् प्रथम आवश्यकता है, हम अंतः-प्रकृति को अनुशासित करें। जब तक हम अपने अंतःजगत् की (अंतरतम विचारों एवं भावनाओं की) पहचान, व्यवस्था एवं पुनर्व्यवस्था नहीं करते हैं, तब तक अपनी अन्तःप्रकृति को वशीभूत करने में असमर्थ रहेंगे। अंतःप्रकृति को वशीभूत किये बिना हम कभी विजयी नहीं हो सकते। केवल इतना ही नहीं अपितु बिना आत्म-संयम के हम सदैव सभी मोर्चों पर हारते ही रहेंगे तथा अंतिम युद्ध में भी पराजय ही हाथ आएगी।

आइए, अब हम स्वयं से एक प्रश्न पूछें - भीतर से मैं क्या हूँ? क्या वह विशृंखलता एवं अस्तव्यस्तता का संसार नहीं है? आइए, हम प्रथम कदम उठायें और इस विश्रृंखलता का विश्लेषण करें। ऐसी कौन सी इच्छायें एवं आवेग हैं जो हमें न केवल परिचालित कर रहे हैं, अपितु हमारे अनचाहे ही हमें विवश कर रहे हैं। वे हमारी इच्छा के विरुद्ध हमसे कार्य करवा ले रहे हैं। आइए, हम इन प्रमुख वासनाओं और आवेगों की पहचान कर इन्हें सूचीबद्ध करें। एक बार इनकी पहचान हो जाने पर हमारा अगला कदम होगा - शत्रु की प्रबलता का मूल्यांकन। क्या हमारे लिए शत्रु का सीधे ही सामना कर पाना सम्भव है? बहुधा हम देखते हैं कि शत्रु का सामना होने पर उसे एक ही प्रहार में ढेर करने का मनोबल हमारे पास नहीं होता है।

आइए, हम भुलावे से प्रारम्भ करें। हम अंतः शत्रुओं को सीधे ही चुनौती न दें। अर्थात् हमें बाध्य करने वाले आवेगों एवं वासनाओं को सीधे ही न ललकारते हुए, उन्हें प्रतीक्षा करने का सुझाव दें। उन्हें कहें - 'अधीर न हो'। हम तुम्हारी इच्छित कामना एवं उद्देश्य की प्राप्ति में तुम्हारी सहायता करेंगे, परन्तु अभी नहीं, थोड़ा रुककर। इस तरह जब भी अवसर उपस्थित हो हम अपनी बलवती वासनाओं की त्वरित आपूर्ति को स्थगित करते चलें। हम उन्हें सुझाव दें कि थोड़ा धैर्य रखने पर उनकी पूर्ति हेतु बड़े-बड़े अवसर आयेंगे। जब तक उन्हें इस प्रकार हमने रोक रखा है, तब तक, आइए, हम स्वयं को प्रार्थना, सत्संग आदि माध्यमों से उन तीव्र संवेगों एवं वासनाओं को - जो आज हमारे सर्वथा प्रतिकूल हैं - उच्च दिशा देने हेतु मार्गों का अनुसंधान करें।

हम अपने मन को बारम्बार यह सुझाव दें एवं उससे पूछें कि देखो मित्र, इतने समय तक हम अपनी अवाछनीय वासनाओं को पूर्ण करते रहे हैं, इसका क्या परिणाम निकला है? हमारा जीवन उनके क्षुद्र उद्देश्यों को तुष्ट करते-करते सारहीन एवं नष्ट हो गया है।

मानवीय मन सुझावों के प्रति अति संवेदनशील होता है। हम स्वयं को बारम्बार सुझाव दें - "मुझमें अनन्त शक्ति है। मैं इन बलवती वासनाओं एव आवेगों से, जो मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध चलाना चाहती हैं, कहीं अधिक बलवान हूँ।"

यह अंतिम विजय हेतु आवश्यक अनुशासन एवं संयम की ओर हमारा प्रथम महत्वपूर्ण कदम है।

संयम का अर्थ आवेग एवं वासनाओं के द्वारा अभिव्यक्त हो रही शक्ति को कुचल डालना नहीं है। वासनायें एवं आवेग और कुछ नहीं, हमारे भीतर सन्निहित शक्तियाँ हैं। जो शक्ति अभी आवेगों और असद् इच्छाओं को परिचालित कर रही है, वही शक्ति उर्ध्व दिशा की ओर प्रवाहित की जा सकती है, जिससे हम अपनी परम सत्ता एवं अंतस्थ नित्यानन्द का संस्पर्श प्राप्त कर सकें। संयम का तात्पर्य उदात्तीकरण से है, विनाश से नहीं। विजय से अर्थ इन विनाशकारी वासनाओं के उदात्तीकरण से है, उन्हें नई दिशा देने से है एवं आत्मज्ञान के उच्चतम लक्ष्य की ओर उन्हें उन्मुख करने से है। वही शक्ति जिसने मुझे

पशुवत् आचरण के लिए विवश किया था, मुझे दिव्य बनाने में सहायक हो सकती है; और यही वास्तविक विजय है।

व्यावहारिक दृष्टि से अनुशासन का अर्थ, जीवन में एक सुनियोजित योजना एवं दिनचर्या के अन्तर्गत कार्य-सम्पादन से है, जो हमारे व्यक्तित्व को विकसित करने एवं इसके उच्चतम आयामों पर विजय-प्राप्ति में हमारा सहायक होता है।

अतः हमें इस बात का ठीक पता होना चाहिए कि हम क्या प्राप्त करना चाहते हैं एवं अनुशासन का पालन कर कहाँ पहुँचना चाहते हैं। जब तक यह लक्ष्य हमारे मनश्चक्षु के समक्ष स्फटिकवत् स्पष्ट नहीं हो जाता, तब तक हम दीर्घ अवधि तक अपनी योजना एव दिनचर्या का पालन करने में असमर्थ रहेंगे।

एक अन्य विशेष बात कि इस योजना एवं दिनचर्या का निर्धारण करते समय ध्यान रहे कि यह अत्यन्त सहज रूप से पालनीय हो। हमारी समस्त शक्ति को संरक्षित कर उसे व्यक्तित्व के उच्चतर आयामों की उपलब्धि में लगाना होगा, न कि किसी असहज, कंटकपूर्ण मार्ग पर चलते हुए उसकी बाधाओं से जूझने में।

आदतें ही हमें उठाती या गिराती हैं

जीवन में विजय-प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण घटक है - हमारी आदतें। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "आदतें हमारा द्वितीय स्वभाव हैं, पर कभी-कभी वे हमारा प्रथम स्वभाव भी बन जाती हैं।"

अनुशासन एवं संयम का आदतों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदत किन्ही भले अथवा बुरे विचारों एवं क्रियाओं की आवृत्ति से बनती है। आज जो हमारी आदत है, पहले नहीं थी। पर जाने-अनजाने उन क्रियाओं की आवृत्ति द्वारा हमने उन्हें अपने व्यवहार में आदत का स्थान दे दिया है। जो कुछ भी, हम कुछ समय तक लगातार बारम्बार करते हैं, वह हमारी आदत हो जाती है - भले ही वह हमें रुचिकर हो या न हो।

इसलिये अपने व्यक्तित्व के उच्चतर आयामों की उपलब्धि के लिये हमें उन आदतों का निर्माण करना चाहिए, जो हमें व्यक्तित्व के निम्नतर आयाम से उच्चतर आयामों तक उठाने में सहायक हों।

प्रायः अपने विजय अभियान का प्रारम्भ करते समय हमें एक महान् समस्या का सामना करना करना पड़ता है। हमारे उच्चतर लक्ष्यों के प्रतिकूल हमारी पुरानी आदतें हमारे विजय अभियान के निष्पादन में बाधास्वरूप आ उपस्थित होती हैं। इसलिए हमारी प्रथम आवश्यकता है कि हम इन पुरानी आदतों को समाप्त करें, जिन्होंने हमें पशुता के स्तर पर बाँध रखा है; जिन्होंने हमें देहबद्ध कर रखा है, हमें सुविधाओं का दास बना दिया है। जिन्होने हमारे आवेगों और क्षुद्र वासनाओं से बाँधकर हमें पशुता-केन्द्रित, इंद्रिय-केन्द्रित जीवन जीने को विवश कर दिया है। सम्भव है, यह वक्तव्य हमें रुचिकर न लगे, किन्तु यह हमारे दैनन्दिन जीवन का एक सत्य तथ्य है।

तथापि हमें निराश अथवा हताश होने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य में एक अकल्पनीय अनन्तशक्ति अन्तर्निहित है, जिससे वह जीवन की किसी भी अवस्था एवं स्थिति में पुनर्जीवन प्रारम्भ कर सकता है। मनुष्य किसी भी अवांछित आदत का उन्मूलन कर उसके स्थान पर मनुष्य को दिव्यता प्रदान करने वाली किसी उत्कृष्ट आदत का सम्पोषण एवं संवर्धन कर सकता है।

हमें स्मरण रखना होगा कि रोम एक दिन में ही नहीं बना लिया गया था - हथेली पर सरसों नहीं उगाई नहीं उगाई जा सकती, बड़े काम एक-दो दिन में नहीं हो जाते। हमें पुरानी बुरी आदतों को उखाड़ना व मिटाना होगा तथा नई कल्याण-कारी आदतों को बनाने एवं उन्हें पुष्ट करने के श्रमसाध्य कार्य में एक सुनियोजित कार्यक्रम बनाकर जुटना होगा। यहाँ पर एक महत्वपूर्ण स्मरणीय बात यह है कि बुरी आदतों का उन्मूलन एवं नई अच्छी आदतों के प्रारम्भ करने का कार्य साथ-साथ चलना चाहिए। ऐसा नहीं कि हम पहले बुरी आदतों से छुटकारा पा लें और तब अच्छी आदतों को अपनाने का प्रयत्न करें। दोनों प्रकियाएँ साथ-साथ चलनी चाहिए। एक अन्य महत्वपूर्ण बात, जो हमें इस विजय-पथ पर अग्रसर होते समय ध्यान रखनी है, कि हम एक साथ बहुत-सी बुरी आदतों को उखाड़ने एवं नष्ट करने का त्रुटिपूर्ण कार्य न करें। यह एक दीर्घकाल तक चलने वाली चरणबद्ध प्रक्रिया है, इसलिए इसे चरणों में शनैः-शनैः किया जाना चाहिए। आइए, हम किसी पुरानी दृढ़मूल आदत - जो हमारा द्वितीय स्वभाव बन चुकी है - की तुलना में किसी सरल आदत के उन्मूलन से प्रारम्भ करें। उदाहरणार्थ - एक व्यक्ति अपने पेटूपन, वाचालता एवं अतिनिद्रा की आदतों से छुटकारा पाना चाहता है। यह अच्छा होगा कि पहले पेटूपन की बुरी आदत को लिया जाय और क्रमशः संयमित भोजन का अभ्यास किया जाय। एक बार यदि वह अपनी भोजन सम्बन्धी आदतों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है, तब वाचालता एवं अतिनिद्रा की आदतों पर नियंत्रण एवं उनका सुधार आसान हो जायेगा। यह नियम उस प्रत्येक बुरी आदत पर लागू होता है, जिसका कि हम नियमन करना चाहते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

वेदान्त-बोधक कथाएँ (४)

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी विश्वाश्रयानन्द जी ने वेदान्त के गूढ़-गहन तत्त्वों को अभिव्यक्त करनेवाली कुछ कथाओं को बँगला में लिखकर 'गल्पे वेदान्त' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। बाद में स्वामी अमरानन्द जी ने उसका आंग्ल रूपान्तरण किया। दोनों ही पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं। उन्हीं कथाओं का हिन्दी अनुवाद हम धारावाहिक रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

सन्तों के जीवन की कुछ झलकियाँ

हममें से प्रत्येक व्यक्ति यदि सच्चे दिल से चाहे, तो परम ज्ञान की उपलब्धि कर सकता है। हमारे किसी भी जन्म का प्रयास व्यर्थ नहीं जाता। परवर्ती जन्म में हम एक ऐसे मन के साथ पैदा होंगे, जिसमें पिछले जन्म में की हुई प्रगति के लक्षण स्पष्ट दिखाई देंगे। इस प्रकार विभिन्न जन्मों से होकर गुजरते हुए हम क्रमशः सर्वोच्च ज्ञान के अधिकारी हो जाते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने इस सिद्धान्त की एक अति उत्कृष्ट व्याख्या की है।

कोई भी अपराध इतना निकृष्ट नहीं है, जो व्यक्ति को सर्वदा के लिये आध्यात्मिक प्रगति के अयोग्य बना दे। हमें जब भी अपनी भूलों का बोध हो, तत्काल दृढ़ता के साथ हमें स्वयं को सुधारने का प्रयास करना होगा। इससे अन्ततः हमें परम आनन्द तथा अमृतत्व की प्राप्ति हो जायेगी।

जिन लोगों को आध्यात्मिक अनुभूति हो चुकी है, उनमें ऐसी प्रबल शक्ति होती है कि वे अपने अन्य मानव-बन्धुओं की डूबती हुई नावों का उद्धार कर सकें। उन्हीं के शब्दों को धर्मशास्त्र कहा जाता है। अन्य लोगों को आध्यात्मिक पथ पर चलने में सहायता देने तथा राह दिखाने में ही जीवन भर वे अपनी सारी शक्तियों का उपयोग करते हैं।

महान् सन्तगण अपने मानव-बन्धुओं के प्रति किस प्रकार का आचरण करते हैं और आध्यात्मिक तत्त्वों का उनका ज्ञान कितना गहन होता है, वर्तमान अध्याय में हम इसी के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

आचार्य शंकर और चाण्डाल

आठवीं शताब्दी के विद्वान् संन्यासी आचार्य शंकर अद्वैत-दर्शन के महान् प्रवक्ता थे। यह दर्शन सबमें एक ही तत्त्व देखता है। एक बार वे वाराणसी में गंगास्नान करने गये। लौटते समय उन्हें रास्ते में चार कुत्तों के साथ एक चाण्डाल खड़ा दिखाई दिया। चूँकि धर्मनिष्ठ हिन्दू इस जाति के लोगों तथा कुत्तों को अपवित्र मानते हैं, अतः शंकराचार्य उनके स्पर्श से बचने के लिए शीघ्रतापूर्वक किनारे हट गये।

इस पर चाण्डाल ने उनसे कहा – "महाराज, आप तो अद्वैतवाद का प्रचार करते हैं न, पर आपका आचरण तो उससे मेल नहीं खाता। आप सोच रहे हैं कि मेरे शरीर के स्पर्श से आप अपवित्र हो जायेंगे। परन्तु हम दोनों के शरीर मिट्टी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश – इन पंच तत्त्वों से ही तो बने हैं। मेरे भीतर और आपके भीतर निवास करने वाली अन्तरात्मा तो एक ही है। अतः मेरी समझ में नहीं आता कि आप किस चीज के भय से सिकुड़े जा रहे हैं।"

चाण्डाल के शब्द सुनकर आचार्य शंकर स्तब्ध रह गये। वे सोचने लगे कि विभिन्न मनुष्यों के शरीरों के आकार या मनःस्थिति के अनुसार ही उनके बीच भेद किया जाता है। परन्तु उनमें अन्तर्निहित आत्मा तो इन सबके परे स्थित रहती है। इतने समय से वे स्वयं जिस ज्ञान का प्रचार कर रहे थे, उसी का व्यावहारिक पक्ष समझाने के लिए उन्होंने चाण्डाल की स्तुति की।

शंकराचार्य में काव्य का स्फुरण हुआ। वे तत्काल 'मनीषा-पंचकम्' शीर्षक एक नये स्तोत्र की रचना करते हुए उसकी आवृत्ति करने लगे। इस स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक के अन्त में कहा गया है – "चाहे कोई ब्राह्मण हो या चाण्डाल, यदि उसने सृष्टि को अद्वैत भाव से देखना सीख लिया है, तो वही मेरा सच्चा गुरु है।"

लोटा भी ईश्वर है

संन्यासी बनने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द का नाम नरेन्द्र या नरेन्द्रनाथ था। नरेन्द्रनाथ का शरीर बड़ा सबल तथा सुगठित था। वे कुश्ती, मुक्केबाजी, दौड़, घुड़सवारी तथा तैराकी में कुशल थे। परन्तु उन्हें अपने शैशव-काल से ही देवताओं की मूर्तियों के सामने बैठकर घण्टों ध्यान करने में आनन्द का बोध होता था। वे सच्चे दिल से सत्य की खोज में लगे थे। वे ज्यों-ज्यों बड़े होने लगे, त्यों-त्यों उनकी सत्य-शोध की प्रवृत्ति एक अलग मार्ग पकड़ने लगी। अब वे बिना परीक्षण किये किसी भी बात पर विश्वास करने को राजी नहीं होते थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थ पढ़ डाले और विद्वानों

के पास जाकर धार्मिक विषयों पर चर्चा भी की। परन्तु कोई भी धर्माचार्य उन्हें ईश्वर के अस्तित्व के बारे में विश्वास नहीं दिला सका। वे बेचैन हो उठे और महान् ज्ञानियों तथा सन्तों की खोज में कोलकाता की सड़कों पर चक्कर लगाने लगे।

१८८१ ई. के नवम्बर में एक पड़ोसी के घर संयोगवश उनकी श्रीरामकृष्ण से भेंट हुई। कुछ दिनों बाद वे परमहंस देव से मिलने दक्षिणेश्वर भी गये। उन्होंने उनके समक्ष एक बड़ा ही स्पष्ट प्रश्न रखा – "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" नरेन्द्र को आशा थी कि उत्तर नकारात्मक ही मिलेगा, पर वे श्रीरामकृष्ण का वास्तविक उत्तर पाकर हक्के-बक्के रह गये। वे बोले – "हाँ, जैसे मैं तुम्हें देख रहा हूँ, वैसे ही उन्हें भी देखता हूँ, बस थोड़ा अधिक स्पष्ट रूप से। ईश्वर को देखा जा सकता है – मनुष्य वैसे ही ईश्वर को देख सकता है, उनसे बातें कर सकता है, जैसे कि मैं तेरे साथ कर रहा हूँ। परन्तु उन्हें देखना ही भला कौन चाहता है?"

नरेन्द्र समझ गये कि श्रीरामकृष्ण सच्चे दिल से बोल रहे हैं, परन्तु वे महात्मा की सारी बातों को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इसके बाद वे कई बार दक्षिणेश्वर गये। नरेन्द्र श्रीरामकृष्ण की जाँच-पड़ताल भी करने लगे और उन्होंने भी इस परीक्षा को पसन्द ही किया।

धीरे-धीरे नरेन्द्र को बोध होने लगा कि उन्होंने श्रीरामकृष्ण की महानता को कम करके आँका है। इसके बावजूद उनकी कुछ बातों को स्वीकार करना उनके लिये कठिन था। एक दिन नरेन्द्र तथा उनके एक मित्र ने परमहंसदेव की एक उक्ति सुनी, "सब कुछ वस्तुत: ईश्वर ही है।" यह बात उन्हें हास्य-जनक लगी। बड़ी मुश्किल से वे अपनी हँसी रोकते हुए श्रीरामकृष्ण के कमरे से निकलकर बाहर के बरामदे में पहुँचे, ताकि वहाँ खुलकर हँस सकें। वहाँ पर वे अपने गुरुदेव की बातों की नकल पर अपनी मजेदार बातें कहने लगे – "तो फिर यह लोटा भी ईश्वर है! ये सब मक्खियाँ भी ईश्वर हैं!"

ठीक उसी समय श्रीरामकृष्ण ने बरामदे में प्रवेश किया और नरेन्द्र के पास जाकर उन्हें छू दिया। क्षण भर में ही उनकी सारी हँसी गायब हो गयी। नरेन्द्र को तत्काल अपने चारों ओर की चीजों में ईश्वर के अस्तित्व का बोध होने लगा। जब वे घर लौटे, तो उन्हें सभी वस्तुओं में ईश्वर का दर्शन होता रहा। उसी भाव में उनके कई दिन बीत गये। बाद में इस भाव के चले जाने पर उनकी समझ में आया कि उन्हें धर्मशास्त्रों में कथित अद्वैत-तत्त्व की अनुभूति हुई है।

श्रीरामकृष्ण की कुछ अनुभूतियाँ

श्रीरामकृष्ण एक दिन दक्षिणेश्वर के अपने कमरे के बरामदे में बैठे हुए थे। उसके सामने घास का एक लॉन था। सहसा देखने में आया कि एक व्यक्ति भारी कदमों के साथ उस घास पर से होकर जा रहा है। बड़े आश्चर्य की बात है कि उसी समय श्रीरामकृष्ण के शरीर में बड़े जोर की पीड़ा हुई। बाद में उन्होंने बताया था, "ऐसा लगा मानो वह व्यक्ति मेरे सीने के ऊपर से होकर चल रहा है।"

* * *

एक अन्य समय श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर में गंगा के तट पर खड़े थे। पास में ही नदी बह रही थी और उसमें से होकर नावें चली जा रही थीं। सहसा एक नौका के दो मल्लाहों के बीच लड़ाई होने लगी। उनमें से एक व्यक्ति ने दूसरे की पीठ पर जोरों से प्रहार कर दिया।

श्रीरामकृष्ण जोरों से चिल्ला उठे – "बचाओ! मुझे बड़े जोर की चोट लगी है।" इसे सुनकर उनका भांजा हृदय दौड़ते हुए तत्काल उनके पास जा पहुँचा। उसने देखा कि मामा पीड़ा से कराह रहे हैं। और उनके पीठ पर लाल रंग का एक हाथ की छाप उभर आयी है – मानो उन्हीं के पीठ पर आघात किया गया हो!

उसे देखकर हृदय का पारा चढ़ गया। वह क्रोधित होकर पूछने लगा – "आपको किसने मारा है?" वह चाहे जो कोई भी रहा हो, हृदय उसकी अच्छी खबर लेना चाहता था। पर श्रीरामकृष्ण ने उसे समझाया कि उनको किसी ने मारा नहीं है, बल्कि मल्लाह की चोट से ही उनके शरीर तथा मन की ऐसी हालत हुई है। हृदय यह सुनकर अवाक् रह गया और यह उचित भी था, क्योंकि किसी अन्य व्यक्ति के शरीर-मन के साथ ऐसी पूर्ण एकात्मता सचमुच ही दुर्लभ है।

* * *

१८६८ ई. में एक बार श्रीरामकृष्ण मथुर बाबू तथा उनके परिवार के साथ तीर्थयात्रा को गये। मथुर दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर के प्रबन्धक थे। पूरी टोली देवघर में ठहरी। उन दिनों वह पूरा नगर तथा आसपास के गाँव भयंकर अकाल की चपेट में थे। वहाँ के स्थानीय आदिवासी संथाल लोग कई दिनों के भूखे थे। उनमें से कुछ लोग भोजन के अभाव में परलोक भी सिधार चुके थे। दुर्बलता के कारण उन लोगों के शरीर अस्थि-पंजर जैसे दिखते थे और उनके पास तन ढ़ँकने को वस्त्र भी अत्यल्प ही थे।

श्रीरामकृष्ण इस दृश्य को सहन नहीं कर सके। वे भी उन संथालों के बीच में बैठकर जोरों से रोने लगे और मथुर बाबू से उनके कष्टों को दूर करने को कहा। मथुर बाबू बोले – "यहाँ तो बहुत-से गरीब लोग दीख रहे हैं। मैं इन सबकी भला कैसे सहायता कर सकूँगा? फिर हम लोगों को वाराणसी आदि तीर्थों की यात्रा का खर्च भी निपटाना होगा!" श्रीरामकृष्ण ने कहा – "इन अकाल-पीड़ितों को इस हाल में छोड़कर मैं वाराणसी नहीं जाना चाहता। ये जगदम्बा की सन्तान हैं। मैं भी इन लोगों के साथ ही आमरण उपवास करूँगा। तुम्हारे

तीर्थयात्रा की भला कौन परवाह करता है !''

हार मानकर मथुर बाबू को उन सन्थाल-आदिवासियों को खिलाने और वस्त्र देने में काफी धन खर्च करना पड़ा। और तभी श्रीरामकृष्ण आगे की यात्रा जारी रखने को सहमत हुए।

* * *

१८८५ ई. में, अपनी ५०वीं वर्षगाँठ के कुछ सप्ताह बाद ही श्रीरामकृष्ण को अपने गले में पीड़ा का अनुभव होने लगा। महीने भर बाद रोग के नये लक्षण भी प्रकट होने लगे। उनके ज्यादा बोलने या बाह्य चेतना खोकर समाधि में जाने पर इसमें वृद्धि हो जाती। प्रसिद्ध डॉक्टरों की राय ली गयी। उनमें से एक ने साधारण प्लास्टर और दूसरे ने मलहम लगाने का निर्देश दिया। परन्तु १ जून तक पीड़ा बढ़ती ही गयी। अगस्त में उनके गले से बहुत-सा खून निकला। श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्य नरेन्द्र अपने अन्य गुरु-भाइयों से परामर्श करने के बाद चिकित्सा हेतु उन्हें कोलकाता ले आये। गंगाप्रसाद, गोपीमोहन तथा महेन्द्रलाल आदि कोलकाता के सुप्रसिद्ध चिकित्सकों को बुलाया गया। उन्होंने परीक्षा के बाद बताया कि इन्हें कैंसर हुआ है।

शिष्यों ने श्रीरामकृष्ण की दिन-रात सेवा की, पर वे लोग देख रहे थे कि बीमारी गम्भीर रूप धारण करती जा रही है।

श्रीरामकृष्ण काशीपुर के उद्यान-भवन में ठहरे थे। एक दिन शशधर नामक एक बड़े पण्डित उनसे मिलने आये। वे श्रीरामकृष्ण से बोले – ''थोड़ी चेष्टा से ही आप अपनी बीमारी ठीक कर सकते हैं। शरीर के जिस अंग में पीड़ा है, कृपया वहीं पर आप अपना मन एकाग्र कीजिये। आपके जैसे महान् योगी बड़ी आसानी से अपने को नीरोग कर सकते हैं।''

श्रीरामकृष्ण बोले – ''आप इतने बड़े विद्वान् होकर भी ये कैसी बाते कहते हैं? मैं अपना पूरा मन ही ईश्वर को दे चुका हूँ। क्या आप सोचते हैं कि इसे उनके चरणों से निकालकर हाड़-मांस के इस पिंजर में लगा सकूँगा?'' शशधर निरुत्तर रह गये और परमहंसदेव से विदा लेकर चले गये।

नरेन्द्र सब कुछ सुन रहे थे। शशधर के जाने के थोड़ी देर बाद वे श्रीरामकृष्ण के कमरे में आये और अपने गुरुदेव से बोले, ''आप जगदम्बा से प्रार्थना कीजिये कि वे आपके रोग को ठीक कर दें। वे निश्चय ही आपकी बात सुनेंगी।''

रुग्ण गुरु ने उत्तर दिया, ''तू जो कहता है वह ठीक है, पर मैंने कभी उनसे ऐसा अनुरोध नहीं किया। इस निरर्थक शरीर के लिये प्रार्थना करना कितनी हीनता की बात है !''

परन्तु नरेन्द्र सहज ही पीछा छोड़नेवाले न थे। वे बोले, ''आप हमारे लिये ही उनसे यह बीमारी ठीक कर देने को कहिये।'' श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र से बड़ा स्नेह करते थे और वे अपने इन शिष्य का अनुरोध टाल नहीं सकते थे। आखिरकार वे बोले – ''ठीक है, मैं ऐसा ही करने की चेष्टा करूँगा।''

थोड़ी देर बाद नरेन्द्र अपने गुरुदेव के पास आये और पूछा कि उन्होंने क्या सचमुच ही प्रार्थना की थी। श्रीरामकृष्ण बोले – ''हाँ, मैंने जगदम्बा से कहा, 'माँ, मैं गले में पीड़ा के कारण कुछ निगल नहीं पाता हूँ। कृपा करके कुछ ऐसा करो ताकि मैं थोड़ा कुछ खा सकूँ।' परन्तु उन्होंने तत्काल तुम लोगों की ओर इशारा करते हुए कहा – 'क्यों? क्या तुम इतने मुखों से खा नहीं रहे हो !' इस पर मैं लज्जित होकर आगे कुछ नहीं कह सका।''

कितना अद्भुत विचार है ! श्रीरामकृष्ण मानते थे कि वे अपने आसपास के लोगों के मुख से खा रहे हैं। वे इस बात पर लज्जित थे कि वे कैसे इस आदर्श से च्युत हो गये और जगदम्बा से कह बैठे, 'मैं कुछ निगल नहीं पाता।'

पवहारी बाबा और चोर

पवहारी बाबा श्रीरामकृष्ण के समकालीन एक महान् सन्त थे। वे गाजीपुर में गंगाजी के पास एक निर्जन स्थान में निवास करते थे। स्वामी विवेकानन्द अपने भ्रमण के दिनों में उनसे मिले थे और उनके प्रति गहन श्रद्धाभाव रखते थे।

बाबा एक बार आधी रात के समय ध्यान कर रहे थे, उसी समय एक चोर उनकी कुटिया में घुसा। धातु के कुछ बर्तन, एक कम्बल और कुछ कपड़े ही बाबा की कुल जमा-पूँजी थे। चोर ने चमक रहे बर्तनों को उठाया और जल्दी-से-जल्दी वहाँ से निकल जाने का प्रयास करने लगा।

बाहर निकलने की जल्दबाजी में चोर के हाथ का एक बर्तन कुटिया की दीवार से टकरा गया। डर के मारे वह उसे लिये घनी झाड़ियों से होकर भागने लगा।

बाबा अपने आसन से उठे। उन्होंने कम्बल तथा कुछ वस्त्रों को हाथ में उठाया और चोर के पीछे भागने लगे। काफी दूर तक पीछा करने के बाद आखिरकार उन्होंने चोर को पकड़ ही लिया। चोर भयभीत होकर काँप रहा था।

मगर न तो उस पर कोई मार पड़ी और न ही उसे पुलिस के हवाले किया गया। उल्टे, बाबा ही चोर के चरणों में गिर पड़े और हाथ जोड़े, आँखों में आँसू भरे बोले – ''प्रभो, आप चोर के वेश में मेरी कुटिया में आये, पर आपने कुछ चीजें छोड़ दी थीं। कृपया इन्हें भी अपने साथ ले जायँ।''

चोर पूर्णत: भावविभोर हो गया। बाबा के बारम्बार आग्रह पर उसे वे उपहार स्वीकार करने पड़े। पर यह उसके जीवन का एक स्थायी मोड़ सिद्ध हुआ। सन्त ने एक अपराधी में भी ईश्वर-तत्त्व ही देखा। वह चोर भी साधना में डूब गया और आगे चलकर स्वयं भी एक सन्त में परिणत हो गया। काफी दिनों बाद स्वामी विवेकानन्द के भारत-भ्रमण के दौरान उनकी सन्त में परिणत उस भूतपूर्व या अभूतपूर्व चोर से भेंट हुई थी और उन्हीं से यह घटना सुनने को मिली। ❖ (क्रमश:) ❖

कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है

स्वामी आत्मानन्द

भगवान् श्रीकृष्ण गीता के दूसरे अध्याय के ४६वें श्लोक में कर्म के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

– "तेरा अधिकार कर्म करने में ही है, उनके फलों में कभी भी नहीं। तू कर्मफल-प्राप्ति का कारण मत बन और न तेरी प्रवृत्ति कर्म न करने में हो।"

इस श्लोक को कर्मयोग की चतुःसूत्री कहा गया है - यानी चार सूत्रों में कर्मयोग के समूचे सिद्धान्त का प्रतिपादन। कर्मयोग का अर्थ है - कर्म के माध्यम से ईश्वर से, सत्य से, आत्मा से, अपने स्वरूप से योग साधित कर लेना। मानव-जीवन का लक्ष्य ही ईश्वर से योग माना गया है।

कर्मयोग की इस चतुःसूत्री का पहला सूत्र कर्म करने पर जोर देता है, कहता है कि मनुष्य का अधिकार कर्म करने में है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील है, तब यह कहने की क्या आवश्यकता हो सकती है कि कर्म करने में ही मनुष्य का अधिकार है? उत्तर में कह सकते हैं कि दूसरे सूत्र की बात को प्रभावी ढंग से रखने के लिए यह कहकर भूमिका बनायी गयी है। दूसरे सूत्र में कहा कि फल में अधिकार कदापि नहीं है। इन दोनों सूत्रों को एक साथ जोड़ने से, पहले सूत्र की बात समझ में आती है। मनुष्य जब कर्म करता है, तो स्वाभाविक ही उसके फल की उसे चाह होती है। बिना फल की इच्छा के व्यक्ति कर्म करेगा ही क्यों? जिसे निष्काम कर्मयोग कहा जाता है, वह ऊँची अवस्था है, वह एकदम से किसी को नहीं मिल जाती। उसके लिए साधना करनी पड़ती है और हमारा यह विवेच्य श्लोक उस साधना की प्रक्रिया को चार सूत्रों के माध्यम से हमारे समक्ष रखता है।

साधना का पहला सोपान कर्म करने की अनिवार्यता बतलाता है। बिना कर्म किये कोई व्यक्ति एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता। गीता में ही अन्यत्र भगवान् कृष्ण कहते हैं -

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

- कोई व्यक्ति बिना कर्म किये यदि क्षण भर भी बैठना चाहे, तो प्रकृति के गुण उसे बैठने नहीं देते। जब मनुष्य को क्रियाशील होना ही है, तब वह किस प्रकार से कर्म करे, ताकि उसका कर्म कर्मयोग बन जाय, यही आगे के तीन सूत्रों में बताया गया है।

दूसरा सूत्र साधना का दूसरा सोपान है। कर्म तो अपने समूचे अधिकार से करो, पर फल पर अपना अधिकार जताने की वृथा चेष्टा मत करो, क्योंकि फल का अधिकार तुम्हारा नहीं है। यह सुनकर कोई पूछ सकता है कि जब कर्म हमने किया, तब फल पर हमारा अधिकार क्यों न होगा? इसका उत्तर यह है कि कर्म का जो भी फल होगा, वह तो कर्म के अटल सिद्धान्त के अनुसार तुम्हें मिलेगा ही, पर फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट करें। एक लड़का परीक्षा देकर घर आता है। उसने परचा लिखना रूप जो कर्म किया, उसका फल तो उसे मिलेगा ही, पर यदि वह फल पर अधिकार जमाए तो वह अनुचित बात होगी। लड़का सोचता है कि उसे ८०% गुण मिलने चाहिए। पर गुण देने का अधिकार उसका नहीं, परीक्षक का है। हो सकता है कि उसे ४०% गुण ही प्राप्त हों। यही तर्क यहाँ भी लागू होता है। मैं समझता हूँ कि मैंने काम अच्छा किया है, इसलिए मुझे ऐसा ही फल मिलना चाहिए। पर फलप्रदाता ईश्वर जानते हैं कि मेरा कर्म कैसा हुआ है। वे मेरे कर्म की गुणवत्ता के आधार पर फल देते हैं। इसीलिए दूसरा सूत्र कहता है कि फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। जैसे विद्यार्थी परीक्षक का अधिकार स्वयं लेना चाहे तो वह सर्वथा अनुचित है, वैसे ही मनुष्य की फल पर अधिकार जमाने की चेष्टा भी अनुचित है।

तीसरा सूत्र कहता है कि तुम कर्मफल के हेतु मत बनो। कर्मफल का हेतु बनना मानो फल को पाने की चेष्टा करना। दूसरे सूत्र में सिद्धान्त बतलाया। तीसरे में उसका व्यवहार प्रदर्शित है। फल का अधिकार तुम्हें नहीं, इसलिए तुम्हें कर्मफल का कारण नहीं बनना चाहिए। कर्मफल का कारण कर्म के अटल सिद्धान्त को ही बनने दो।

चौथा सूत्र कहता है कि यह सब सुनकर तुममें ऐसी प्रतिक्रिया भी न आवे कि तुम कर्म करना ही छोड़ दो। ऐसा न कहो कि जब फल से मेरा सरोकार नहीं, तब कर्म ही भला क्यों करूँ? रजोगुण कहता है कि कर्म करूँगा तो फल लेकर ही करूँगा। तमोगुण कहता है कि फल पर अधिकार छोड़ना है तो मैं कर्म को ही छोड़े देता हूँ। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – तुम सत्त्वगुणी बनो, क्योंकि सत्त्वगुण कहता है – कर्म करो, पर फल का अधिकार ईश्वर पर छोड़ दो। ❑❑❑

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (१६)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

ब्रह्माण्ड (सूक्ष्म)

हिन्दू धर्म के मतानुसार ब्रह्माण्ड अनादि है। मानो एक नियमबद्ध क्रम से इसका बारम्बार आविर्भाव तथा विलय होता रहता है। आविर्भाव होने पर कुछ काल तक यह प्रकट रहता है और उसके बाद इसका लोप हो जाता है। ब्रह्माण्ड की इन विभिन्न अवस्थाओं को सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय कहते हैं। इन तीनों के योग से कल्प नामक एक पूर्ण चक्र बनता है, जो अनादि काल से बारम्बार चलता आ रहा है।

इसी प्रकार की एक घटना का अनुभव हम सभी प्रायः प्रतिदिन करते रहते हैं। प्रतिदिन जाग्रत तथा सुषुप्ति अवस्था में हमारी चेतना में एक बार ब्रह्माण्ड सृष्टि तथा प्रलय हुआ करता है। प्रत्येक व्यक्ति की गहरी निद्रा के समय यह ब्रह्माण्ड शून्य में विलीन हो जाता है। यह भी एक तरह का प्रलय है। परन्तु दोनों में भेद इतना ही है कि इसका बोध केवल निद्रित व्यक्ति की चेतना में ही होता है। प्रतिदिन की सुषुप्ति काल के दौरान इस अल्पकालीन प्रलय को 'नित्य प्रलय' कहा जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि इस ब्रह्माण्ड के सभी प्राणी एक ही समय सो जायँ, तब क्या होगा? ऐसी अवस्था में तो निश्चय ही किसी की भी चेतना में ब्रह्माण्ड का अस्तित्व नहीं रह जायेगा। अतः यह पूर्ण रूप से अदृश्य हो जायेगा। हिन्दू धर्म का कहना है कि ऐसी अकल्पनीय सचमुच ही घटती है। विश्ववासियों के अन्तःकरण की समष्टि का आश्रय लेकर एक देवता विराजते हैं। ये देवता अनन्त-विभूति-सम्पन्न और कल्प के आदि जीव हैं। उपनिषद् में हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, परम ब्रह्म, महत् ब्रह्म, ब्रह्मा, प्राण आदि अनेक नामों से इन देवता का उल्लेख मिलता है। कभी इन देवता को ईश्वर की ही एक मूर्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है; पुराणों में वर्णित ब्रह्मा इसी रूप में परिचित हैं। विश्व के समग्र अन्तःकरणों की समष्टि के आश्रयी ब्रह्मा जब निद्रामग्न हो जाते हैं, तब एक सर्वांगीण प्रलय हो जाता है, जिसे शास्त्रों में 'नैमित्तिक प्रलय' कहते हैं। जब वे जागते हैं तो फिर ब्रह्माण्ड प्रकट हो जाता है, अर्थात् इसकी सृष्टि हो जाती है। विश्व की सृष्टि तथा स्थिति का काल मिलाकर मानो ब्रह्मा का दिन और प्रलय काल की अवधि उनकी रात है।[१]

जब हम लोग सोते हैं, तो वस्तुतः क्या होता है? यदि इसी की धारणा हो जाय, तो हम अनुमान कर सकते हैं कि नैमित्तिक प्रलय के समय क्या होता है। गहरी निद्रा के समय नाम-रूप से युक्त किसी भी वस्तु की सत्ता का बोध हमें नहीं रहता। उस समय हमारी चेतना में बाह्य जगत् का कोई चिह्न या अपने व्यक्तित्व के किसी भी विवरण का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। उस समय कर्म, अनुभूति, विचार, कामना – सब कुछ लुप्त हो जाते हैं। उस समय चेतना की पृष्ठभूमि बिल्कुल खाली हो जाती है। अपना नाम, धाम, रूप, क्रिया-कलाप आदि सब कुछ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाते हैं। परन्तु जब हम जागकर उठ जाते हैं, तब ये सभी पुनः हमारी चेतना की भूमि पर हाज़िर हो जाते हैं। तब तक ये सब कहाँ थे? निद्रा के समय निश्चय ही वे पूर्णतः नष्ट नहीं हुए थे। क्योंकि नष्ट हो जाने पर वे फिर से उस प्रकार प्रकट नहीं हो पाते। हिन्दू धर्म के मतानुसार – ये समय, विचार, सारी कामनाएँ आदि अमूर्त संस्कार के रूप में अन्तःकरण के भीतर बीज की अवस्था में विद्यमान थे, अन्यथा जागने के साथ-ही-साथ वे इस प्रकार पुनः खिल नहीं उठते। चाहे जैसे भी हो, सुषुप्ति के दौरान ये एक अव्यक्त अवस्था में परिणत हो जाते हैं और निद्रा टूटते ही पुनः अभिव्यक्त हो जाते हैं।

एक विशाल वृक्ष के अंग-प्रत्यंग एक छोटे-से बीज में अदृश्य शक्ति के रूप में विद्यमान रहते हैं। यह शक्ति ही यथासमय वृक्ष के आकार में अभिव्यक्त होती है। वस्तुतः इस शक्ति का सक्रिय होना ही वृक्ष की उत्पत्ति का मूल कारण है। अतः कहा जा सकता है कि वृक्ष मानो अमूर्त कारण-अवस्था में बीज के भीतर विद्यमान है। ठीक इसी प्रकार सुषुप्ति के समय विचार, कामना, आवेग, निश्चय, स्मृति आदि व्यक्तित्व के उपादान हमारे अन्तर में एक अदृश्य शक्ति के रूप में निवास करते हैं, इसको व्यष्टि की कारण-अवस्था कहते हैं। वस्तुतः सुषुप्ति के दौरान इस कारण-अवस्था में ही हमारी मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ लीन रहती हैं, इसीलिए उस समय वे निष्क्रिय हो जाती हैं और हमारा स्थान-काल का बोध लुप्त हो जाता है। सुषुप्ति के समय हमारी चेतना स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से निकलकर कारण-शरीर में निवास करती है

हिन्दू शास्त्रों में सुषुप्ति की ऐसी ही व्याख्या प्राप्त होती है। समष्टि-अन्तःकरण-रूपी हिरण्यगर्भ के सुषुप्ति-काल में

१. गीता, ८/१७-१९

भी ऐसी ही घटना होती है। उनकी चेतना कारण-शरीर में चली आने पर उनके अंशरूप – प्रत्येक जीव का अन्त:करण और उसके बोधगम्य विश्व के समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ – तब हिरण्यगर्भ के कारण-शरीर में प्रवेश करके वहीं अमूर्त शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है। उस प्रकार हिरण्यगर्भ के सुषुप्ति काल में समष्टि-प्रलय हो जाती है। इसी को नैमित्तिक प्रलय भी कहते हैं। हिरण्यगर्भ के जागरण से फिर सृष्टि आरम्भ होती है। इस प्रकार बारम्बार सृष्टि तथा प्रलय का क्रम चक्रवत् चलता रहता है।

कल्प के अन्त में अर्थात् हिरण्यगर्भ की परम आयु[२] समाप्त हो जाने पर जब वे विदेह होकर परब्रह्म में मिल जाते हैं, तब भी इसी प्रकार का एक महाप्रलय होता है। तब समग्र ब्रह्माण्ड अस्फुट अनन्त-शक्तिरूपा प्रकृति में विलीन हो जाता है। हिरण्यगर्भ के मुक्तिजनित महाप्रलय को शास्त्र में 'प्राकृत प्रलय' कहा गया है। परवर्ती कल्प के आरम्भ में एक अन्य जीव पूर्ववर्ती कल्प में अर्जित पुण्य के फलस्वरूप हिरण्यगर्भ के रूप में आविर्भूत होते हैं।[३]

कल्प के आदि जीव हिरण्यगर्भ के ज्ञान, इच्छा तथा कर्म की शक्ति असीम होती है। बाकी सृष्टि उन्हीं का कार्य है। इसीलिए पुराणों में ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता कहा गया है।

ब्रह्मा किस प्रकार सृष्टि करते हैं? वे कोई शून्य से सृष्टि नहीं करते। ब्रह्माण्ड उनकी सत्ता के भीतर से प्रकट होता है। वे स्वयं ही विश्व में रूपान्तरित हो जाते हैं। वे अपने अमोघ संकल्प के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में मूर्त हुआ करते हैं। उनका संकल्प एक सुनिर्दिष्ट धारा में चलता है। वे ध्यान के द्वारा पिछले कल्प के सृष्टिक्रम को जान लेते हैं और सृष्टि-विषयक उनके संकल्प एक-एक कर उठते रहते हैं। अस्फुट कारण-अवस्था में लीन होकर जो कुछ भी अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा करता रहता है, उसे वे ध्यान के बल से जान लेते हैं। पूर्व कल्प के सृष्टिक्रम तथा उसकी अभिव्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार वे इच्छा मात्र से ही अपनी सत्ता से अगणित सूक्ष्म तथा स्थूल वस्तुओं की सृष्टि करने लगते हैं।

हिरण्यगर्भ की इच्छा मात्र से ही कैसे इस प्रकार होने लगता है, हमारी स्वप्न-अवस्था के बोध से इसका एक अस्पष्ट आभास प्राप्त होता है। वैसे हमारा मन ही सपनों का जाल बुनता है। मन अपनी सत्ता से ही स्वप्न की वस्तुओं को गढ़ लेता है। उनका उपादान भी मानसिक है। स्वप्न के दौरान हमारा मन जो चाहता है, वही देख सकता है। बल्कि कहा जा सकता है कि मन जैसी इच्छा करता है, वैसा ही रूपायित हो जाता है। तन्द्रा के समय मन बाह्य जगत् के हाथ से मुक्त हो जाता है और उसमें एक ऐसी अद्‌भुत शक्ति प्रकट हो जाती है, जिसके द्वारा वह अपनी इच्छानुसार स्वयं को अनेक रूपों में रूपायित कर सकता है। वस्तुत: उस समय जादूगर भी उससे हार मान लेता है।

जब व्यष्टि-मन का इस प्रकार रूपायन सम्भव है, तो फिर समष्टि-मन के लिये तो अपने संकल्प के अनुसार जगत् में रूपायित होना निश्चय ही सम्भव है। ब्रह्मा जान-बूझकर तथा निर्दिष्ट क्रम के अनुसार सृष्टि रचते हैं, और हम लोग मन के अवचेतन स्तर में स्वप्न की सृष्टि करते हैं। निस्सन्देह दोनों में जमीन-आसमान का भेद है। तथापि ये दोनों घटनाएँ एक ही तरह की हैं। ब्रह्मा ध्यान की सहायता से जो कुछ जान पाते हैं, उसी की वे कामना करते हैं और वे जो कामना करते हैं वही देख पाते हैं। और वे जो कुछ देखते हैं, वही उनके अंश-स्वरूप हमारे व्यष्टि-मन अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार देख पाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्मा स्वयं किस प्रकार अस्तित्व में आते हैं? उनका कौन स्रष्टा है? इसके अतिरिक्त, चूँकि ब्रह्मा भी हमारी ही भाँति जीव अर्थात् देहयुक्त चैतन्य हैं, अत: दो प्रश्न और उठते हैं – उनका शरीर किस प्रकार का है? और उनके देहाश्रयी चैतन्य का क्या स्वरूप है?

ये सारे प्रश्न काफी दुरूह हैं। अन्तिम दोनों प्रश्नों का शास्त्रीय उत्तर यह है – समष्टि अन्त:करण ब्रह्मा का शरीर है और ईश्वर स्वयं उनके देहाश्रयी चैतन्य हैं।

विश्व के समस्त सूक्ष्म-शरीरों की समष्टि उनकी देह है। विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय कोष नाम के तीन केन्द्रीय खोलों या कक्षों को मिलाकर यह शरीर गठित हुआ है। बुद्धि तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों का समष्टि विज्ञानमय कोष है। ज्ञान-शक्ति का आधार यह कोष ही कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का अधिष्ठान है। संकल्प-शक्ति का आधार मनोमय कोष मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों से गठित हुआ है। पंचप्राण[४] तथा कर्मेन्द्रियों के योग से गठित प्राणमय कोष कर्म-निष्पादक शक्ति का आधार है।

ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ के देहावयव रूप ये तीन कोष अमिश्र पंचभूतों से निर्मित है। इन अतीव सूक्ष्म पंचभूतों को तन्मात्रा कहते हैं। 'भूत' शब्द का अर्थ है – 'जो हो चुका है', अर्थात् कोई भी प्रकटित वस्तु – यह अव्यक्त के ठीक विपरीत है। 'तन्मात्र' शब्द का अर्थ है – 'केवल वही'; अत:

२. हिरण्यगर्भ का एक दिन हमारे ४३,२०,००० वर्षों के बराबर होता है और इस पैमाने से उनकी सौ साल की परमायु होती है।

३. और भी एक प्रकार का प्रलय होता है – पूर्ण ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ब्रह्माण्ड अपने मूल कारण-रूप अविद्या के साथ पूर्णत: लुप्त हो जाता है। इसी कारण इसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। अन्य प्रकार के प्रलयों में कारण या अव्यक्त का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता।

४. प्राण (जैवशक्ति) – अपने विभिन्न शारीरिक क्रियाओं के अनुसार प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान – ये पाँच अलग-अलग नाम लेकर पंचप्राण के नाम से प्रसिद्ध है।

पंचभूतों में से कोई भी जब तक अन्यों के साथ मिश्रित नहीं होता है, तब तक उसे तन्मात्रा कहते हैं।[५]

आकाश, वायु, तेज, अप् तथा क्षिति – ये पाँच सूक्ष्म भूत हैं। इन्हें पदार्थ-भेद से ईथर, वायु, अग्नि, जल तथा मिट्टी की जाति का समझना भूल होगा। क्योंकि तन्मात्राएँ इनकी अपेक्षा काफी सूक्ष्म हैं और पूर्णत: भिन्न श्रेणी की हैं। हिन्दू ऋषियों की विश्लेषण-विधि वर्तमान वैज्ञानिक-विधि से पूर्णत: भिन्न है।[६]

अव्यक्त से ये पाँच प्रकार की तन्मात्राएँ एक साथ ही आविर्भूत नहीं होतीं। सर्वप्रथम आकाश का आविर्भाव होता है। आकाश-तन्मात्रा का कुछ अंश वायु में परिणत हो जाता है और वायु का कुछ अंश तेज में रूपान्तरित होता है। इसी प्रकार तेज से अप् और अप् से क्षिति का उद्भव होता है।

इस प्रसंग में एक बात और भी उल्लेखनीय है। जिससे तन्मात्राओं का उद्भव होता है, उसे अव्यक्त या प्रकृति कहते हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् – इन तीन विशिष्ट शक्तियों के सम्मिलन से गठित यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका कहलाती है। जिस प्राकृतिक शक्ति के प्रभाव से विश्व की वस्तुएँ हमारी चेतना में उद्भासित होती हैं, अर्थात् हमारे लिये ज्ञानगोचर होती हैं, उसे सत्त्व कहते हैं। जिस शक्ति के प्रभाव से समस्त पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है, उसे रजस् कहते हैं; यही प्रकृति का प्रबल वेगप्रद अंश है। अज्ञान तथा जड़ता की अभिव्यंजक शक्ति को तमस् कहते हैं। अव्यक्त से जो कुछ भी प्रकट होता है, उस पर इन तीन शक्तियों या गुणों की छाप रहती है। यहाँ तक कि सूक्ष्म भूत या तन्मात्राएँ भी इसी प्रकार त्रिगुणात्मक हैं। प्रत्येक तन्मात्रा के तीन अंश हैं – सात्त्विक अंश प्रकाशक है, राजसिक अंश वेगप्रद है और तामसिक अंश जड़ता-व्यंजक है।

आकाश, वायु, तेज, अप् तथा क्षिति – इन पाँच सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक का सात्त्विक अंश लेकर यथाक्रम श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा नासिका – इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का उद्भव होता है। और उनके सात्त्विक अंशों के समवाय से बुद्धि तथा मन उत्पन्न होते हैं। सूक्ष्म भूतों के अलग-अलग राजसिक अंशों से पाँच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियों का और उनके समवाय से पंचप्राणों का उद्भव होता है। ब्रह्मा के देह के तीन कोष इसी प्रकार तन्मात्राओं के सात्त्विक तथा राजसिक अंशों से गठित हुए हैं। इस प्रकार रचित एक विश्वव्यापी सूक्ष्म-शरीर में ब्रह्मा का अधिष्ठान है। इसी के अन्दर प्रत्येक जीव का सूक्ष्म-शरीर विद्यमान है। ◆(क्रमश:)◆

५. तथा ६. देखिये, अगला अध्याय

दीपक-सम जल

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

क्षणभंगुर है तन, जीवन में मन !
दीपक-सम जल।
चलना है, तो मानवता के
पावन पथ पर चल ।।

पल-पल जलते रहना ही है
तेरा सच्चा स्वार्थ,
स्वार्थ वही धिक्कार योग्य है,
जहाँ नहीं परमार्थ,
परहित ही नदियों का जल है,
वृक्ष न खाते फल।
क्षणभंगुर है तन, जीवन में मन !
दीपक-सम जल ।।

तन-बल, धन-बल, जन-बल पाकर
क्यों करता अभिमान,
महाकाल से बढ़कर कोई
और नहीं बलवान,
अहंकार-आडम्बर से तू
मत अपने को छल।
क्षणभंगुर है तन, जीवन में मन !
दीपक-सम जल ।।

वृत्ति-वर्तिका पीती जाये
पुण्य प्रेम का तेल,
जगमग ज्योति जगे जीवन की,
हो प्रकाश का खेल,
छल न किसी को जग-जीवन में
बन करके तू खल,
क्षणभंगुर है तन, जीवन में मन !
दीपक-सम जल ।।

छोड़ असत् को, सत् से ही अब
जोड़ कर्म के तार,
ऊर्ध्वमुखी पंकज-सम उठकर
कर अपना उद्धार,
जो करना है करता चल तू,
क्यों करता कल-कल?
क्षणभंगुर है तन, जीवन में मन !
दीपक-सम जल ।।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(२७) सद्‌गुरु की महिमा अनन्त

बारिश के दिन थे। जहाँ-तहाँ पानी के डबरे और गड्ढे हो गये थे। गुरु नानक ने एक दिन अपने शिष्यों के सामने ही एक गड्ढे में एक बर्तन फेंक दिया और थोड़ी देर बाद शिष्यों से कहा, "पहले मैं उस बर्तन को निरुपयोगी समझ रहा था, मगर मुझे अब उसकी जरूरत महसूस हो रही है। मैं चाहता हूँ कि आप में से कोई उसे निकालकर ला दे।" श्रीचन्द नामक एक शिष्य ने मन-ही-मन कहा – गुरुदेव ने बर्तन को गड्ढे में जान-बूझकर फेंका था और अब वे उसे निकालने को कह रहे हैं। अन्यत्र फेंकते, तो कोई भी ला देता। एक अन्य शिष्य लक्ष्मीदास ने अपना बर्तन लाकर नानकदेव से कहा – "उस गन्दे पात्र की जगह आप इस पात्र से अपना काम चलाइये।" गुरुदेव बोले – "मुझे किसी दूसरे का नहीं, वही पात्र चाहिए।" बाकी शिष्यों ने मन-ही-मन सोचा कि वह बर्तन न जाने कितनी गहराई तक गया होगा। उसे निकालने में तो हमारा शरीर और वस्त्र कीचड़ से गन्दे हो जाएँगे। अच्छा तो यही होगा कि वे नया बर्तन ही इस्तेमाल करें। कुछ शिष्यों ने एक लम्बा बाँस डालकर बर्तन को निकालने की चेष्टा भी की, परन्तु वे असफल रहे।

लहनाजी नामक एक अन्य शिष्य थे, जो बाद में 'अंगददेव' नाम से प्रसिद्ध हुए और सिक्खों के गुरु बने। वे उस समय कहीं बाहर गये थे। वापस लौटकर जब उन्हें सारी बात ज्ञात हुई, तो वे गड्ढे में कूदने के लिए तैयार हुए। अन्य शिष्यों ने उससे कहा – "पात्र ही निकालना है, तो अच्छे वस्त्र उतारकर मैले वस्त्र पहन लो और तब गड्ढे में उतरो।" वे बोले – "वस्त्र तो फिर प्राप्त किये जा सकते हैं। अभी वस्त्रों का महत्त्व है या गुरु के आदेश का? मैले वस्त्र तो पुन: धोये जा सकते हैं, लेकिन गुरु के आदेशों की अवहेलना से लगा कलंक कभी धोया नहीं जा सकता। गुरु के आदेशों का पालन, देरी से नहीं, तत्काल करना चाहिये।" यह कहकर वे गड्ढे में कूद गये और वह पात्र निकालकर उसे गुरुदेव के सुपुर्द कर दिया। नानकदेव ने शिष्य की पीठ थपथपाई और उसे स्नान करके शीघ्र प्रार्थना हेतु आने को कहा।

(२८) अपना उद्धार स्वयं करो

सन्त तिरुवल्लुवर के पास एक बार एक धनी सेठ आया और उन्हें प्रणाम करने के बाद व्यथित मन से बताने लगा कि उसका इकलौता पुत्र कुसंगति में पड़कर उसका सारा धन मौज-मस्ती में खर्च कर रहा है। उसे अपने दुर्गुणी तथा उच्छृंखल पुत्र के भविष्य की चिन्ता सता रही है, इसीलिए उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए कोई उपाय जानना चाहता था।

तिरुवल्लुवर ने सेठ से पूछा – "पहले बताओ कि जिस धन का वह अपव्यय कर रहा है, वह क्या तुम्हारे द्वारा अर्जित है या तुम्हें अपने पिता से उत्तराधिकार में मिला है?"

सेठ ने उत्तर दिया – "नहीं, वह मेरे स्वयं के द्वारा अर्जित है। मेरे पिता निर्धन थे। मैंने मितव्ययिता करके अपने बच्चे के उज्ज्वल भविष्य के लिए यह सम्पदा एकत्र की है।"

सन्त ने फिर पूछा – "अपने पूर्वजों की कोई थाती न रहने पर भी जब तुमने अपार सम्पत्ति अर्जित कर ली है, तो फिर यह सम्पत्ति समाप्त होने के बाद क्या तुम्हारा बेटा नयी सम्पत्ति अर्जित नहीं कर सकता?"

सेठ के निरुत्तर रहने पर वे बोले – "जब भगवान ने उसे दो हाथ, दो पैर और साथ में बुद्धि भी दी है, तो वह निश्चित रूप से मेहनत करके अपना निर्वाह कर सकता है। अर्थात् वह कभी भूखा नहीं मर सकता। फिर वह जो फिजूलखर्ची कर रहा है, उसमें गलती उसकी नहीं, तुम्हारी है। तुमने अपने पिता की भाँति पितृ-धर्म का समुचित निर्वाह नहीं किया, इसीलिए वह उच्छृंखल हो गया है। तुम्हारे पिता ने तुम्हें जो अपने पैरों पर खड़े होने की शिक्षा दी, तुमने वैसा नहीं किया। तुमने उसे स्वावलम्बी बनाने का प्रयास नहीं किया। बच्चों को सुयोग्य बनाने के लिए अच्छे संस्कारों की जरूरत होती है और तुम अपने इस कर्तव्य से चूक गये। यदि तुमने इस ओर ध्यान दिया होता, तो वह न तो कुसंगति में पड़ता और न तुम्हें उसके भविष्य की चिन्ता सताती। व्यक्ति स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता है, उसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं होती।

❖ (क्रमश:) ❖

आत्माराम की आत्मकथा (१९)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य कृत इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

पण्ढरपुर या पुरन्दरपुर में

पण्ढरपुर पहुँचकर सोचा कि चन्द्रभागा नदी में स्नान आदि करके रहने के स्थान की तलाश करूँगा। रास्ते में सहसा एक मराठी ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा – "भिक्षा के लिए मेरे घर पर आइयेगा।" 'तथास्तु' – कहकर स्नान करने गया। नदी बहुत अच्छी है, जल स्वच्छ है और वहाँ सुन्दर दृश्यावली है। पुरन्दरपुर महाराष्ट्र-वासियों के लिए काशी है। सचमुच ही वैसा है। उस पवित्र चन्द्रभागा नदी के तट पर हजारों तीर्थ यात्री नित्य स्नान व पूजा आदि करते हैं। घर-घर में देव-मन्दिर हैं। सर्वत्र पूजा होती है और विशेषकर संध्या के समय कीर्तन चलता है।

तुकाराम का स्थान कितना पवित्र और कितना सुन्दर है ! उस दिन भिक्षा आदि करके नदी के किनारे एक शिव-मन्दिर में पड़ा रहा। अगले दिन एकादशी थी। उस दिन प्राय: सभी लोग उपवास या फलाहार करते हैं। मेरे भाग्य से संध्या के समय एक खरबूज मात्र प्राप्त हुआ। अगले दिन पूरी तौर से निराहार रहा। कितने लोग आये-गये, लेकिन किसी ने भिक्षा के लिए नहीं पूछा। बहुत-से लोग प्रणाम कर गये, परन्तु बाबाजी का भोजन हुआ है या नहीं, यह किसी ने नहीं पूछा। चौथे दिन सुबह एक वृद्ध ने दो पैसे देकर नमस्कार किया। उसी से भुने हुए चने खरीद कर चबाने लगा।

मुसलमान बालक से भेंट

पण्ढरपुर के देव प्रसन्न नहीं हैं – ऐसा सोचकर शाम को नौका से नदी पार करके शोलापुर की राह पकड़ी। शोलापुर वहाँ से करीब साठ-पैंसठ मील होगा। निराहार होने के कारण शरीर में बल नहीं था, कमण्डलु में पानी लेकर उसी को पीते हुए चलने लगा। संध्या के कुछ पूर्व देखा – सामने फिर एक नदी है, नौका आदि कुछ नहीं है और कोई मनुष्य भी नहीं दिखा, जिससे पार जाने का उपाय पूछा जा सके।

नदी के किनारे-किनारे ऊपर की ओर चला। खेतों के बीच, काँटों के ऊपर से नंगे-पाँव चलने में बेहद कष्ट हो रहा था। बबूल के काँटे थे, अत: बड़ी सावधानी से पाँव रख रहा था, तो भी जरा-सी चूक होते ही काँटा चुभ जाता और उसे निकालना पड़ता था। नदी के दोनों ओर बबूल के जंगल थे। एक जगह नदी नाले की तरह संकरी होकर बह रही थी। देखकर आशा जगी, पर तैरना न जानने के कारण अनजान स्थान पर नदी में उतरने का साहस नहीं हुआ। थोड़ा और आगे जाकर देखा – उस पार दो मुसलमान उसी बबूल के जंगल में भेड़-बकरियाँ चरा रहे हैं। उनसे पूछने पर वे बोले – "उतर आओ, पानी कम है।" लेकिन उतरते ही पानी बिल्कुल छाती तक आ गया। ठिगना होने से ऐसे ही दुर्दशा होती है। सब कुछ भीग गया, लेकिन गले से ऊपर पानी नहीं मिला। पार हो गया। गाँव का रास्ता पूछा। वे बोले – "यहाँ डेढ़-दो मील जाने पर रास्ता मिलेगा।"

फिर बोले – "इधर आप क्यों आये? आपके पाँव में जूते नहीं हैं और यहाँ बबूल का जंगल है। देखिये, आपके पाँव खून से सन गये हैं।"

इसके बाद दोनों ने थोड़ा विचार किया – "संध्या हो गई है, पाँव में जूते नहीं हैं, इस जंगल को पार कराकर रास्ते तक न पहुँचा देने से आपको बड़ा कष्ट होगा।"

एक व्यक्ति रास्ता दिखाते हुए आगे-आगे चला। और खजूर की एक डाली से सारा मार्ग साफ करते हुए चलने लगा। चाँदनी रात थी, इसीलिये सुरक्षा थी। एक ग्राम के रास्ते पर आकर बोला – "यह रास्ता पकड़कर सीधे चले जाओ, गाँव में पहुँच जाओगे।" गाँव के पास पहुँचने पर देखा कि एक १३-१४ वर्ष का मुसलमान बालक एक पीर के मजार से एक थाली में भात आदि लेकर बाहर निकल रहा है। मुसलमान बालक ने मुझसे पूछा कि मैं कहाँ से आ रहा हूँ। सब सुनने के बाद बोला – "तो फिर आज आपका भोजन नहीं हुआ है।"

मैं – "नहीं भाई।"

मुसलमान – "आपको यदि आपत्ति न हो, तो हमारे घर भिक्षा ग्रहण करेंगे।"

मैं – "मुझे स्वयं कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु मैं आजकल निरामिष भोजन ही करता हूँ। तुम लोगों को इससे असुविधा हो सकती है।

मुसलमान – "नहीं, बिल्कुल भी असुविधा नहीं होगी। पर्याप्त दूध है, अभी खीर बना देंगे। अच्छा, आप हिन्दू

संन्यासी हैं, बाकी लोग जो आते हैं, उनमें से कोई कभी हमारे हाथ का पानी तक नहीं पीते। परन्तु लगता है कि आपमें वैसा कोई भेद-भाव नहीं है। इसका क्या कारण है?''

मैं – ''मुझे उस प्रकार के भेद-भाव से घृणा है। मैं सभी को मनुष्य की दृष्टि से ही देखता हूँ। परन्तु स्वच्छता के प्रति ध्यान अवश्य रखता हूँ। गन्दे ब्राह्मण के भी हाथ का मैं नहीं खाता। और देखो, ईश्वर तो एक हैं, लोगों ने उनके नाम अलग-अलग रखे हैं – तुम्हारी भाषा में तुमने रखा है और मेरी भाषा में मैंने – अरबी भाषा में खुदा, अल्ला है और संस्कृत भाषा में ब्रह्म, भगवान, नारायण आदि है। उन सब शब्दों के पीछे भाव एक ही है। अपनी-अपनी भाषा में व्यक्ति एक ही प्रभु को पुकारता है। शिक्षा के अनुसार मनुष्य की ईश्वर-विषयक धारणा भिन्न-भिन्न होती है।

''भाव की अभिव्यक्ति की पद्धति भी अलग होती है। और देश-देश में आचार-विचार तथा सभ्यता के स्तर के अनुसार भिक्षा होती है और उसी के अनुसार ईश्वर, आत्मा, परलोक, धर्म आदि विषयक धारणाओं में भेद दृष्टिगोचर होता है। पूर्व संस्कारों की बात यदि छोड़ दी जाय, क्योंकि तुम लोग पूर्व-जन्मवाद को स्वीकार नहीं करते। परन्तु जिस व्यक्ति ने जिस सभ्यता में जन्म लिया है, उसका परिवेश उसके चरित्र पर विशेष प्रभाव डालता है। साथ ही उसके माँ-बाप की शिक्षा, उसकी अपनी शिक्षा आदि सब मिलकर उसे एक परिपक्व मानव में परिणत करती हैं। जब उसका अपनी भाषा पर अच्छा अधिकार हो जाता है, तब वह सुन्दर चित्ताकर्षक शब्दों में अपने भाव व्यक्त करने में समर्थ होता है। वह जितना ही विचार करता है, उतना ही उसकी धर्म आदि विषयों में गूढ़ तत्त्वों का ज्ञान बढ़ता जाता है। परन्तु अपरिपक्व शिशु के रूप में जो भाव उसके अनजाने ही उसकी स्नायुओं में प्रविष्ट होकर उसके रक्त में मिल गये हैं, उन सबके प्रभाव से वह स्वयं को बचा नहीं सकता। वैसे खूब तीक्ष्ण विचार वाला होने पर, यदि वह जान सके, तो दूसरों की अपेक्षा स्वयं को इस स्थूल प्रभाव से मुक्त कर सकता है। परन्तु उसे बड़ी मेहनत करनी पड़ती है। नबी या अवतार कोटि के व्यक्ति भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं होते। लोकाचार भ्रान्तिपूर्ण होने पर भी ये लोग उसे मानकर चलते हैं। और धर्म-विकास के ऊपर दृष्टि रखकर उसमें कुछ फेर-फार या परिवर्तन करके समाज को ऊपर उठाने का प्रयास करते हैं। परन्तु यदि ध्यान से देखो, तो पाओगे कि समाज पुरानी प्रथाओं को पूर्णत: नहीं छोड़ता, उसमें कुछ संशोधन मात्र कर लेता है। और नबी या अवतार जो कुछ कहते हैं, उनकी हाँ में हाँ मिलाकर उनका अनुयायी बन जाता है और इस प्रकार एक नये सम्प्रदाय की सृष्टि हो जाती है।

''फिर जिस सम्प्रदाय में जितने अधिक शक्तिमान लोग होते हैं, वह उतनी ही शीघ्रतापूर्वक फैल जाता है और विराट् रूप धारण कर लेता है। परन्तु प्रत्येक को एक बात याद रखना अच्छा है और यह मेरा अपना विश्वास है कि सम्प्रदाय में शामिल होना अच्छा है, उसकी उत्तम शिक्षाओं के अनुसार चलना भी अच्छा है, परन्तु अपने को बेच डालना अच्छा नहीं है, उसका गुलाम हो जाना उचित नहीं है। तात्पर्य यह कि स्वयं को स्वतंत्र बनाये रखकर ही सब कुछ करना अच्छा है। इससे गुण-दोष पर ध्यान जाता है और व्यक्ति की अपनी नैसर्गिक विशेषता खिल उठती है। मैं तो इसी में दृढ़ विश्वासी हूँ और इसी के अनुसार चलता भी हूँ। इसीलिये मैं हिन्दू संन्यासी होकर भी तुम्हारे हाथ का खाने में कोई दोष नहीं देखता। वैसे मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि मैं मनुष्य-मनुष्य के बीच 'भेदभाव' से घृणा करता हूँ। मनुष्य अत्यन्त सभ्य हो या असभ्य – है तो वह एक ही श्रेणी का जीव, इस हिसाब से उसके साथ मेल-जोल किया जा सकता है या उसके हाथ का खाया जा सकता है, परन्तु हाँ, स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से 'स्वच्छता' अति आवश्यक है। इसलिये गन्दे लोगों के हाथ का खाना या उनके साथ मेल-जोल भी उचित नहीं है। इसके बाद, जिसका जो स्वाभाविक भोजन है, उसे वही खाना चाहिये। एक व्यक्ति का खाद्य दूसरे व्यक्ति में रोग की सृष्टि करके उसे हानि पहुँचा सकता है या उसके धर्मभाव में बाधक हो सकता है। भोजन के विषय में इन दो बातों का ध्यान रखना उचित है। मैं तो ऐसा ही करता हूँ। देखो, छूत-अछूत में मेरा ज्यादा विश्वास नहीं है और मुझे यह भी नहीं लगता कि 'मुसलमान', 'हिन्दू', 'ईसाई' – आदि के रूप में यह भेद ईश्वर की सृष्टि है। फिर जाति या वर्ण का विभाजन – इसे भी समाज की सुविधा के लिये मनुष्यों ने स्वयं ही गढ़ा है और असुविधा होने पर वे ही इसे तोड़ेंगे और तोड़ भी रहे हैं।'' इसी तरह की बातें करता हुआ गाँव में जा पहुँचा।

मुसलमान बालक – ''भगवान की इच्छा से आपके साथ भेंट होकर अच्छा ही हुआ। आज बहुत-सी बातें जानने को मिलीं। हम लोग सूफी हैं, हमारे भावों के साथ आपके भावों की काफी समानता है।''

ग्राम के द्वार के पास ही मस्जिद है। खूब रात हो गयी थी। मुझे वहीं बैठाकर वह घर चला गया। थोड़ी देर बाद वह अपने वृद्ध काका को साथ लेकर आ पहुँचा।

वृद्ध बोले – ''महाराज, नमस्कार! मेरे भतीजे की आपको खिलाने की इच्छा है। सुना कि आपको भी खाने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि यह सब भेद आदि आप नहीं मानते, परन्तु यहाँ के हिन्दुओं को पता चल जाने पर सम्भव है कि वे लोग बेकार ही हम लोगों से झगड़ा करने लगें। दंगा-फसाद भी हो सकता है। इसलिये मुझे लगता है कि

आप हिन्दुओं के धर्मशाला में ही ठहरें। यह लड़का जाकर पटेल (मुखिया) को सूचित कर देगा। यदि हिन्दू लोग आपकी भिक्षा का प्रबन्ध न करें, तो मेरे घर को आप अपना ही समझियेगा। मैं स्वयं ही आपको पकाकर खिलाऊँगा।''

वृद्ध की युक्तिसंगत बातें मानकर मैं उस मुसलमान भाई के साथ 'काले हनुमान' के मण्डप में गया। वहाँ कोई भी न था। वह मुझे बैठाकर मुखिया को सूचना देने गया। थोड़ी देर बाद मुखिया तथा गाँव के और भी ३-४ मराठी लोग आये। वे लोग हिन्दी नहीं जानते थे और मैं मराठी नहीं बोल सकता था, तथापि थोड़ा-थोड़ा भावार्थ समझ लेता हूँ। इसलिये उस मुसलमान बालक ने दुभाषिये का काम किया।

आपस में तरह-तरह से विचार करने के बाद उन लोगों ने मुझसे पूछा – "सीधा लेंगे क्या?" मैं बोला – "मैं स्वयं पका नहीं सकता, तो सीधा लेकर क्या करूँगा?" इसके बाद खूब जोर-शोर के साथ चर्चा करने के बाद बोले – "गाँव के ब्राह्मण को बुलाओ, उसी को साधु-संन्यासियों की सेवा करना उचित है, वही रसोई करे।" एक व्यक्ति उसे बुलाने गया। वह समाचार लेकर लौटा – "उसे बुखार हुआ है और उसकी पत्नी गाँव में नहीं है, किसी कार्यवश अन्यत्र गयी है।" फिर चर्चा आरम्भ हुई। बाद में मुखिया ने पूछा – "तो फिर क्या होगा?"

दुभाषिये मुसलमान बालक ने कहा – "रात काफी हो गयी है। ये कल से भूखे हैं, आज काफी रास्ता पैदल चलकर आने के कारण विशेष थके हैं। आप लोग यदि शीघ्र इनके खाने का इन्तजाम नहीं कर सकते हों, तो मैं इन्हें अपने घर ले जाऊँगा!" फिर विचार चलने लगा। थोड़ी देर बाद उन लोगों ने पूछा – "यदि घी में पका दें, तो क्या आप हमारे हाथ का खायेंगे?"

मैं – "क्यों नहीं खाऊँगा? थोड़ी सफाई से करने से ही हो जायेगा। तुम लोग इतनी देर से क्या विचार कर रहे थे? पहले ही यह बात पूछ लेते तो सारा झंझट दूर हो जाता।"

मुखिया – "हम लोग मराठा हैं। संन्यासी लोग हमारे हाथ का कभी नहीं खाते। इसीलिये हम लोग थोड़े मुश्किल में पड़ गये थे। तो मैं अब घर जा रहा हूँ, खाना तैयार होते ही मैं आपको बुलाकर ले जाऊँगा।" इतना कहकर वह चला गया। बाकी लोग भी चले गये। मुसलमान भाई भी यह कहकर चला गया कि वह खाकर फिर आयेगा। जब आया, तो साथ में गरम पानी और एक कटोरी में गरम तेल भी लेकर आया था। आकर उसने मेरे पाँव धोकर गरम तेल से मालिश करने लगा। अन्ततः मुझे नींद आ गई।

काफी रात हो जाने पर हाथ में मशाल बत्ती लिये मुझे बुलाने के लिए मुखिया आ पहुँचा। विशाल नेत्र, काला रंग, डकैत के जैसा दिख रहा था। ये ही लोग शिवाजी की सेना में थे। ये साहसी और मजबूत मराठा हैं। क्या ही गठा हुआ शरीर है इनका! और इनकी गृहिणियाँ भी वैसी ही हैं।

खाने को दिया – 'पूरन पूरी' – शुद्ध घी में पकायी जाती है और मराठी लोगों का यह बड़ा ही प्रिय खाद्य है। साथ में मिर्च की चटनी, थोड़ा गुड़ और एक कटोरी में थोड़ा घी भी था। एक छोटे-से पत्तल में मुझे दो पूरन-पूरियाँ दीं और बाकी ५-७ को हाथ से झाड़ कर मेरे बगल में मिट्टी के फर्श पर (पहले घी चुपड़ी हुई एक बड़ी पूरी रखी और उसके ऊपर बाकी सब) रख दिया और कहा – "जरूरत के अनुसार ले लेना।" उस समय भूख की मार से प्राण निकल रहे थे, इसलिये खाना आरम्भ किया। मुखिया भी थोड़ा चखने बैठा और मुखियानी भी। पेट में खूब घी जाने से खाकर बड़ी तृप्ति हुई। खाना दो दिन बाद हुआ था।

भोजन के बाद मैंने हिन्दी में कहा कि 'काले हनुमान' के स्थान पर पहुँचा दो। मुखिया को हिन्दी नहीं आती थी, उसने सोचा कि 'दक्षिणा' माँग रहा हूँ। वह नाराज होकर बोला – "खिला दिया, अब और क्या?" इसके बाद उसकी स्त्री भी हाजिर हुई। मैंने कहा – "मुझे और कुछ नहीं चाहिये, धर्मशाले का रास्ता बता दो।" तो भी मुखिया को समझ में नहीं आया। हाथ-मुख हिलाते हुए थोड़ा दांत पीसकर बोला – "जाओ, जाओ, रास्ता पकड़ो, और कुछ नहीं मिलेगा।"

मैंने संकेत से समझाने के प्रयास में 'भों-भों' की आवाज और हाथ से कुत्ते के काटने जैसा संकेत किया। मुखिया की

पुरखों की थाती

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः ।
चन्द्र-चन्दनयोरपि शीतला साधुसंगतिः ।।

– संसार में चन्दन को शीतल मानते हैं और उससे भी शीतल चन्द्रमा को मानते हैं, परन्तु सन्तों का सान्निध्य तो इन दोनों से भी अधिक शीतल होता है।

आश्रमान्तर्गता वेश्या ऋष्यश्रृंग ऋषेः सुतः ।
तपस्विनस्तु तां मेने आत्मवन्मन्यते जगत् ।।

– ऋषिपुत्र ऋष्यश्रृंग को अपने आश्रम में आई हुई वेश्या भी तपस्वी ही दिखाई पड़ी। व्यक्ति संसार के लोगों को अपनी मनोदशा के अनुरूप ही देखता है।

असारे खलु संसारे सारं एतत् चतुष्टयम् ।
काश्यां वासः सतां संगो गंगाम्भः शम्भुसेवनम् ।।

– यह संसार निश्चय ही असार है, तथापि इसमें चार चीजें ही सार हैं – वाराणसी में निवास, सन्तों का संग, गंगाजी का जल और शिवजी की उपासना।

स्त्री थोड़ी बुद्धिमती थी। उसने मेरे इशारे तथा कथन के भावार्थ को समझ लिया और मुखिया से बोली – "ये रास्ता दिखाने को कह रहे हैं। यहाँ नये हैं और कुत्ते इन पर आक्रमण कर सकते हैं। जाओ बत्ती लेकर पहुँचा आओ।" तब मुखिया ने मेरी ओर प्रसन्न होकर देखा और मेरा सहमति-सूचक सिर हिलाना देखकर खूब हँसते हुए बोला – "मैंने सोचा कि तुम (दक्षिणा आदि) कुछ और माँग रहे हो।" मुखिया की स्त्री ने मेरी बात को ठीक समझ लिया था, मेरे संकेत से यह जानकर वह भी खूब हँसने लगी और मुखिया से बोली – "तुम्हें जरा भी बुद्धि नहीं है, यह छोटी-सी बात समझ नहीं सके। बेकार ही बाबाजी को खरी-खोटी सुना रहे थे।" इतना कहकर उसने हाथ जोड़कर नमस्कार किया – मानो गलती के लिये माफी माँग रही हो। मेरे प्रति-नमस्कार करने पर वह जीभ को दाँतों के बीच दबाकर सिर हिलाकर बारम्बार नमस्कार करने लगी। मुखिया ने भी उसका साथ दिया। और क्षमा-याचना के रूप में पाँव चूमने लगा। भाव यह था कि मेरा उन्हें नमस्कार करना उचित नहीं हुआ।

मशाल जलाकर 'काले हनुमान' तक पहुँचा दिया। देखा कि वह मुसलमान भाई उसी धूल पर लेटा हुआ निद्रामग्न है। हमारे आने पर जागकर पूछने लगा – "खाना हुआ है या नहीं?" यही जानने के लिये वह तब भी वहाँ पड़ा था। कितना सुन्दर भाव था उसका !

'काले हनुमान' महाराष्ट्र के प्रत्येक गाँव में पूजित हो रहे हैं। गाँव में जो भी चौरा या मण्डप या धर्मशाला होती है, उसमें 'काले हनुमान' एक प्रमुख स्थान अधिकार कर लेते हैं। यह हनुमान की मूर्ति है। अन्य स्थानों पर उनके पूरे शरीर पर लाल रंग या सिन्दूर का लेप होता है, परन्तु यहाँ तेल के साथ कोयले का चूर्ण या उसी तरह का कुछ काला मिलाकर उन पर लेप किया जाता है। इसीलिये हिन्दीभाषी साधु लोग इन्हें काले हनुमान कहते हैं, मराठी लोग भी ऐसा ही कहते हैं, परन्तु महाराष्ट्र में 'मारुती' इनका प्राचीन नाम है। महाराष्ट्र के प्रत्येक गाँव में आगन्तुकों के लिये ऐसा ही धर्मशाला या मन्दिर या मण्डप बना हुआ है। ४-५ घरों की बस्ती हो, तो भी वे लोग ऐसा ही एक झोपड़ा बनाकर रखते हैं। काठियावाड़-गुजरात में भी ऐसी ही प्रथा है। बहुधा ऐसे ही स्थान में गाँव की पाठशाला चलती है और विवाह आदि भी होते हैं। उसी में गाँव के पंचों की मीटिंग भी होती है और कोई अफसर आने पर वहीं निवास करता है। बंगाल में भी प्रत्येक ग्राम में पहले एक चण्डी-मण्डप हुआ करता था, परन्तु अब उसका नामो-निशान भी नहीं है। यदि कोई आगन्तुक आ जाय, विशेषकर जो लोग पैदल चलते हैं, तो कोई मन्दिर आदि न होने पर उन्हें रहने का बड़ा कष्ट होता है। पंजाब में भी आगन्तुक, साधु-संन्यासी आदि के लिये गाँव के बाहर विशेष रूप से एक छप्पर या झोपड़ी और २-४ खाली खाटें पड़ी रहती हैं। कभी यह पंचायत की ओर से होता है या फिर किसी विशेष धनवान व्यक्ति की ओर से।

बाकी रात किसी प्रकार कष्टपूर्वक बीता – बबूल के काँटें भिदे होने के कारण पाँव के तलवों में भयानक पीड़ा होने से नींद नहीं आयी। उसके ऊपर मच्छर थे और पिस्सू भी थे – सभी खून में से अपना थोड़ा-थोड़ा हिस्सा निकाल रहे थे।

सुबह वह मुसलमान बालक गरम पानी लेकर हाजिर हुआ। वही थोड़ा-सा तेल भी गरम करके लाया था। तेल से खूब मालिश करके गरम पानी से धोने पर पीड़ा काफी कम हो गयी। वैसे जो दो-एक काँटे रह गये थे, उन्हें छुरी तथा सूई की सहायता से बाहर निकाल लिया था। मेरे लिये बकरी का ताजा दूध और पके फल लाकर वह बोला – "रात में तो आपने हमारे यहाँ नहीं खाया। इतना-सा खा लीजिये। यह हमारी अपनी बकरी का दूध और हमारे अपने बगीचे का फल है।" अहा, क्या ही सुन्दर थी उसकी यह सत्कार-भावना ! देखकर मैं मुग्ध हो गया।

पास ही एक दूसरा बड़ा गाँव है – सुनकर बिना प्रतीक्षा किये ९-१० बजे उसी ओर चल पड़ा। गाँव के पोस्ट-मास्टर ब्राह्मण थे, उन्होंने बड़े यत्नपूर्वक भोजन कराया।

पता चला कि वहाँ से शोलापुर के मार्ग में ४-५ मील दूर एक अन्य ग्राम है। भोजन के बाद थोड़ा विश्राम करके उसी ओर चल पड़ा। संध्या के पूर्व वहाँ जा पहुँचा। उस दिन महाराष्ट्रीय लोगों का कोई पर्व था। लोग बैलों को सुन्दर ढंग से सजाकर लाठी-तलवार से खेलते हुए पटाखे छोड़ते हुए गाँव के 'चौरे' से दरवाजे तक आये। उसके बाद महिलाओं ने दरवाजे के बाहर जाकर एक बैल के पैरों के पास चार-पाँच घड़े पानी डाला। फिर बैलों को थोड़ी-थोड़ी ताजी घास और गुड़-आटे के लड्डू खिलाये। इसके बाद पटाकों की धूम-धड़ाम आवाज करते हुए कोई वीरत्व-व्यंजक गीत गाते हुए जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये।

यह दृश्य देखकर मुझे 'शिवाजी' की याद आ गई। इन्हीं लोगों की सहायता से वे विशाल मुगल सेना को तहस-नहस करने में समर्थ हुए थे। अब भी यदि कोई इनका संगठन कर सके, तो नि:सन्देह ये अन्य क्षेत्रों में भी अच्छा काम करेंगे। शिवाजी ! शिवाजी ! अहा, भारत-माता के मुकुट की एक मणि थे। रामदास भी वैसे ही थे। उनके हुए बिना शिवाजी नहीं होते। गुरु रामदास द्वारा रचित 'दासबोध' में वेदान्त का सिंह-गर्जन निहित है। शिवाजी द्वारा खड़ी की गयी शक्ति को पेशवा लोगों ने नष्ट कर दिया और ये लोग अब भी सो रहे हैं, अब भी यह जाति गहरी निद्रा से अभिभूत है। इसीलिए दूसरे शिवाजी गढ़ने के लिए रामदास की जरूरत है।

❖ (क्रमश:) ❖

माँ सारदा : हमारी चिर आश्रय

भगिनी निवेदिता

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(उत्तरार्ध)

माँ पढ़ लेती थीं। रामायण पाठ में उनका काफी समय बीतता था। परन्तु वे लिख नहीं पाती थीं। तो भी ऐसा बिल्कुल भी नहीं लगता था कि वे अशिक्षित हैं। उन्हें न केवल सांसारिक अथवा धार्मिक प्रशासन चलाने का कठोर अनुभव है, अपितु भारत के विभिन्न स्थानों में भ्रमण और प्रमुख तीर्थों के दर्शन का भी अनुभव उन्हें है। सर्वोपरि, मानव के लिये जो सर्वोच्च आत्म-विकास सम्भव हो सकता है, श्रीरामकृष्ण के सहधर्मिणी के रूप में उसका सौभाग्य उन्हें मिला है। विराट् की संगिनी तथा साक्षी होने की महिमा को उन्होंने प्रति क्षण अनजाने ही वहन किया है। पर जब वे अगले ही क्षण किसी नयी धर्म-चेतना या भाव का स्पष्ट मर्मभेद कर डालती हैं, तब वही महिमा सर्वाधिक मुखर हो उठती है।

कुछ दिनों पूर्व जब ईस्टर-दिवस पर माँ ने हमारे आवास पर आकर दर्शन दिया, तभी हमें उनकी इस क्षमता का पूरा परिचय मिला। इसके पूर्व उनका संग करते समय मैं उनकी भावधारा के चिन्तन में इतनी मग्न रहती थी कि इसके विपरीत भूमिका में उनकी ओर ध्यान देने की बात मेरे मन में आयी ही नहीं। इस विशेष अवसर पर माँ और उनकी संगीनियों ने पूरे मकान को घूमकर देखने के बाद, प्रार्थना-कक्ष में बैठकर उन लोगों ने ईसाई धर्मानुष्ठान का तात्पर्य सुनने की इच्छा प्रगट की। तब हमारे छोटे-से फ्रांसीसी आर्गन पर ईस्टर का गीत बजाया गया। ईसा के पुनरुत्थान का स्तोत्र माँ के लिए अपरिचित तथा विदेशी था, तथापि जिस प्रकार शीघ्रतापूर्वक उसका मर्म समझकर उन्होंने उसके साथ गहन भावात्मीयता दिखाया, उसी से हम लोगों के समक्ष सर्वप्रथम असन्दिग्ध रूप से श्री सारदादेवी की विराट् धर्म-संस्कृति का एक अन्य पक्ष उन्मोचित हुआ। श्रीरामकृष्ण के संस्पर्श में आकर धन्य हुई माँ की संगिनियों में भी यही क्षमता अल्पाधिक देखने में आती है। पर सारदादेवी में उसका बोध तथा शक्ति असीम है – वह एक उच्च शिक्षा की सुनिश्चित फलश्रुति है।

एक अन्य दिन संध्या के समय मैंने माँ में इसी गुण का विकास देखा था। उस समय मैं अपनी छोटी-सी मण्डली में बैठी थी। माँ ने मुझे तथा मेरी गुरुभगिनी को यूरोपीय विवाह-पद्धति का वर्णन करने को कहा। भरपूर हँसी के बीच हम दोनों ने कभी 'ईसाई पुरोहित', तो कभी वर या कभी वधू के रूप में सजकर उनके आदेश का पालन किया। लेकिन विवाह की प्रतिज्ञा सुनकर उनके मन में जिस भाव का उदय हुआ, उसके लिए हम लोगों में से कोई भी तैयार नहीं था। "सुख-दुःख में, सम्पति-विपत्ति में, शक्ति-अशक्ति में जब तक मृत्यु हमें अलग न कर दे" – यह उक्ति सुनते ही सभी लोग आनन्द से "अहा-हा" कह उठे। परन्तु इस पर माँ की परितृप्ति ही सबसे अधिक थी। उनके निर्देश पर यह उक्ति उन्हें कई बार सुनानी पड़ी। उन्होंने बारम्बार कहा, "अहा, कैसी अपूर्व धर्म की बात है!"

माँ के आवास के दिन शान्ति और माधुर्य से परिपूर्ण रहते। ब्राह्म मुहूर्त में सभी लोग एक-एक कर चुपचाप उठ जाते; फिर बिस्तर की चटाई के ऊपर से चादर और तकिया हटाकर, उस पर स्थिर होकर बैठ जाते हैं, मुख दीवार की ओर होता है और हाथ में जप की माला घूमती रहती है। उसके बाद कमरे की सफाई तथा स्नान का समय होता है। विशेष पर्व के दिन माँ अपनी किसी संगिनी के साथ पालकी में बैठकर गंगा-स्नान को जाती हैं। उसके पूर्व तक वे रामायण पढ़ती हैं। उसके बाद माँ अपने कमरे में पूजा करने बैठती हैं। कम आयु की महिलाएँ दीप जलाती हैं; धूप-धूना देती हैं; गंगाजल, फूल तथा पूजन-सामग्री की व्यवस्था करती हैं। उसी समय यहाँ तक कि गोपाल-की-माँ भी आकर नैवेद्य तैयार करने में मदद करती हैं। इसके बाद दोपहर के भोजन तथा अपराह्न के विश्राम का समय होता है। संध्या होते ही सेविका लालटेन जलाकर हम लोगों के वार्तालाप के बीच में आकर खड़ी हो जाती है; सब लोग उठ जाते हैं; हम लोग पट या विग्रह के सामने साष्टांग होकर प्रणाम करते हैं; गोपाल-की-माँ और श्रीमाँ की पदधूलि लेते हैं; या फिर आज्ञाकारी बालिका के सामान माँ के साथ छत पर जाती हैं अथवा जहाँ तुलसी-पौधे के नीचे दीप जलाया गया है, वहीं जाकर बैठती हैं। जिसे भी

संध्या-ध्यान के समय माँ के पास बैठने की अनुमति मिल जाती है, उसे बड़ा भाग्यशाली माना जाता है – माँ की सभी पूजाओं के आरम्भ तथा अन्त में जो गुरु-प्रणाम होता है – उस प्रणाम को करना वह स्वयं माँ से सीखता है।

जब चारों ओर घण्टे बजने लगते हैं, सुर गुँजते हुए आने लगते हैं, आकाश के आंगन में तारे निकल आते हैं, उसी संध्या-आरती के समय को मैं शान्ति-लग्न कहती हूँ। प्रत्येक कमरे में संध्या-दीप जल उठते हैं। अन्त:पुर की नारियाँ विग्रह के समक्ष प्रणत होती हैं। उस समय के कई घण्टे पूर्व से ही माँ के घर में, ठीक शब्दों में कहें तो आश्रम में कई महिलायें माला लेकर नि:शब्द जप करती रहती हैं। उस समय वायुमण्डल पूजा के भाव से परिपूर्ण हो जाता है। उसकी स्मृति मात्र से भी असीम शान्ति मिलती है! संध्या, तारों का प्रकाश, चन्द्रमा का उदय और प्रार्थना के स्वर – सब कुछ मानो हमारी माँ के सान्निध्य के समान है। विशेषत: जब वे पूजा के आसन पर होती हैं, तब उनका सामिप्य संध्या की सघन मधुरिमा के समान होता है। अहा, अलौकिक! अलौकिक! माँ जब पूजा करने बैठती हैं, तो कितनी सुन्दर दिखती हैं! उसी क्षण मैं उनको सर्वाधिक पसन्द करती हूँ!

अनुभूति में माँ परिपूर्ण हैं। उनकी जो फोटो[८] खीचीं गई, उसका तात्पर्य यह है कि अपने जीवन में पहली बार अपने परिवार से बाहर किसी वयस्क पुरुष (कैमरामैन हैरिंग्टन) की ओर सीधे देखा था, या उस तरह के किसी ने उनका चेहरा देखा था। परन्तु इस कारण उनमें कोई आत्म-सचेतनता नहीं थी, बिन्दु मात्र भी नहीं थी!

माँ ने (मुझसे) कहा था और स्वामीजी के बारे में मुझे जो कल्पना करना अच्छा लगता है, श्रीरामकृष्ण ने ठीक वही बात स्वामीजी के बारे में उनसे कहा था – स्वामीजी राष्ट्रीय देवता (शिव) के साक्षात् अवतार हैं और वे (श्रीरामकृष्ण) काली के अवतार हैं।

माँ के समान प्रेमपूर्ण मुख मैंने कहीं नहीं देखा है। गाँव में रहने पर वे दुबली तथा साँवली हो जाती हैं। (रोग से) शरीर बिल्कुल दुर्बल हो जाता है। परन्तु उनके कोलकाता लौटने पर देखती कि वे वही व्यक्ति हैं – वही पहले के समान स्वच्छ बुद्धि, उन्नत मर्यादा, नारीत्व की महिमा – यथावत्। उन्हें कितने प्रकार से सुख से रखने की मेरी इच्छा होती है! एक नरम तकिया, सामान रखने का एक ताक, एक कम्बल और भी क्या-क्या चाहिये! माँ ने हाल ही के अपने एक दर्शन के बारे में (मुझे) बताया – उन्होंने मुझे गेरुए वस्त्र में देखा है।[९]

माँ मानो पूर्ण विश्वास की दर्पण हैं। यदि इन्होंने किसी को एक बार स्नेह किया है, तो वह स्नेह हमेशा के लिए है – यही उनका जीवन-सत्य है। (स्वामी) योगानन्द की मृत्यु[१०] से माँ को गहरा आघात पहुँचा था। जब दाह-क्रिया के लिए उनका शरीर ले जाया जा रहा था, तब ऊपरी मंजिल से दीर्घ क्रन्दन सुनायी दे रहा था और वह पूजा की ध्वनि के साथ मिलकर चारों ओर फैल गया। महिलाओं ने समझ लिया था कि इतने दिनों तक जिन पर इस घर का भार था, वे सदा के लिए चले जा रहे हैं। योगीन-माँ की तुषार-शीतल स्तब्धता टूट गयी। लगा मानो उनकी और श्रीमाँ की छाती फट गयी है। माँ की ऐसी मानसिक वेदना थी कि (इस घटना के काफी दिनों बाद तक) वे मृत्यु शब्द तक सहन नहीं कर पाती थीं। – "जानती हूँ, जानती हूँ, वह मेरे प्रभु के पास गया है, यह बात मैं जानती हूँ – लेकिन वह मे–रा–योगीन जो था, प्रभु ने उसे छीन लिया!"

---

८. माँ का सर्वप्रथम फोटो खिंचवाने में निवेदिता की विशेष भूमिका थी। उनका जो छायाचित्र सर्वाधिक परिचित है, उसके खिंचवाने की व्यवस्था निवेदिता तथा श्रीमती ओली बुल ने की थी। १८९८ ई. के नवम्बर में निवेदिता १६ नं. बोसपाड़ा लेन के मकान में माँ के प्रथम तीन चित्र खींचे गये। निवेदिता और श्रीमती ओली बुल ने माँ को बहुत समझा-बुझाकर तथा हठ-आग्रह करके उन्हें अंग्रेज फोटोग्राफर हैरिंग्टन के सामने बैठने को राजी किया। निवेदिता ने माँ के वस्त्र ठीक ढंग से सहेज दिये। अपनी अत्यन्त लज्जाशीलता के कारण ही माँ फोटो खिंचवाने को राजी नहीं हो रही थीं। इसके सिवा स्वामी योगानन्द के बहुत बीमार होने के कारण माँ के मन में उस समय प्रचण्ड उद्विग्नता तथा पीड़ा थी। उनके पहले चित्र में दृष्टि झुकी हुई है। वे किसी भी तरह कैमरे की ओर देखने को तैयार नहीं थीं, अत: उसे उसी अवस्था में खींचा गया। इस चित्र में उनके दाहिने पाँव की अँगुलियाँ वस्त्र से ढँकी हुई थीं। दूसरे चित्र में उनके पाँव की अँगुलियाँ थोड़ी-सी दीख पड़ती हैं। इसके लिये श्रीमती बुल को श्रेय दिया जाना चाहिये। उन्हीं के अनुरोध पर माँ यह दूसरा चित्र (जो वर्तमान में सर्वाधिक परिचित तथा सर्वत्र पूजित है) खिंचवाने को राजी हुईं। तीसरे फोटो में श्रीमाँ के साथ निवेदिता भी बैठी हैं। – सम्पादक

९. माँ के इस दर्शन का अर्थ है – निवेदिता का अन्त:संन्यास। स्वामीजी ने निवेदिता को ब्रह्मचर्य दीक्षा दी थी। इसीलिए वे श्वेत वस्त्र पहनती थीं। (माँ के स्नेहभाजन स्वामी अभयानन्द – भरत महाराज से मैंने सुना है कि निवेदिता कभी-कभी अपने सिर में एक गेरुआ रूमाल लगाये रखती थीं।) निवेदिता के आग्रह एवं प्रार्थना के बावजूद स्वामीजी ने उन्हें बाह्य संन्यास नहीं दिया। इसका कारण सम्भवत: यह था कि उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से देख लिया था कि परवर्ती काल में निवेदिता उनके द्वारा स्थापित संन्यासी-संघ के नियमों को छोड़ राजनैतिक कार्यों से जुड़ जायेंगी। परन्तु वे जानते थे कि निवेदिता 'मृत्यु-पर्यन्त' संन्यास के मुख्य व्रत – ब्रह्मचर्य की रक्षा करेंगी। इसीलिए स्वामीजी ने उन्हें अन्त:संन्यास दिया था। निवेदिता-विषयक माँ के दर्शन का सम्भवत: यही तात्पर्य है। – सम्पादक

१०. श्रीरामकृष्ण के एक त्यागी भक्त और माँ के प्रथम मंत्रशिष्य तथा सेवक स्वामी योगानन्द का देहान्त २८ मार्च, १८९९ ई. को १०/२ बोसपाड़ा लेन के माँ के तत्कालीन आवास में हुआ था – सम्पादक

सदानन्द के मुँह से मैंने एक मरणासन्न बालक की बात सुनी थी। माँ ने उसे गंगा के किनारे ले जाने का निर्देश दिया था। लड़के ने पूछा – "तो क्या मैं मरने जा रहा हूँ?" वे लोग उसे "माँ का आदेश" – कहकर टाल गये। लड़के ने तत्काल कहा – "निश्चय ही। माँ को मेरा प्रणाम। उनकी आज्ञा तो माननी ही होगी। आप लोग मुझे ले चलिए।" तब वे लोग उसके बिस्तर को बाहर लाये। माँ अपने छज्जे में खड़ी होकर उसकी ओर देखती रहीं। स्वामी त्रिगुणातीत उसके पूरे शरीर में गंगा की मिट्टी से पहले श्रीरामकृष्ण, उसके बाद कृष्ण तथा अन्य देवताओं के नाम लिखने लगे। लड़के ने यह सब लिखते देखकर कहा – "यह सब नाम मिटाकर एक ही नाम रखो – मैं वही नाम लेकर इतने दिन जिंदा रहा – मरते समय वही नाम लेकर जाऊँगा।[११] जब ऐसा किया गया, तब उसने भी विदा लेने के लिए माँ की ओर देखा। उसके बाद लोग उसे ले गये। और जाते समय सारे रास्ते वह आनन्दपूर्वक बातें करता रहा। परन्तु गंगातट पर पहुँचते ही उसकी मृत्यु हो गयी।

यदि कभी मुझे लम्बे समय के लिए जेल जाना पड़े, तो मेरे मित्रों को इसके लिये शोक करने की जरूरत नहीं, क्योंकि मैं वहाँ तत्काल ध्यान करना शुरू कर दूँगी और उस अद्भुत उर्ध्वलोक में चढ़ने की चेष्टा करूँगी, जिसमें श्रीमाँ विराजती हैं। अहा ! उनके समान माधुर्य तथा शान्ति, उसी के साथ अनुभव की ऐसी गहराई तथा स्नेह – कल्पनातीत है। उनका जीवन कैसा असाधारण है ! वे अपने पति की ही पूजा की व्यापक विधि-व्यवस्था के बीच रहती हैं – जिसका आयोजन स्वत:स्फूर्त रूप से अन्य महिलाएँ कर देती हैं। वे अपने पति की ईश्वर के रूप में पूजा करती हैं, तथापि उनके लिए गम्भीर मानवीय कोमलता का भाव रखती हैं। एक रात मैंने माँ को कहते सुना था – "उन्हें देखने मात्र से ही मुझे सुख मिलता था।"

ऐसा जीवन बिताते हुए वे कमल के पत्ते पर पड़ी एक ऐसी जलबिन्दु के समान हो गयी थीं – जो पृथ्वी के सभी अंगों का स्पर्श करती है, परन्तु उसके द्वारा परिवर्तित या प्रभावित नहीं होती – आनन्द से परिपूर्ण रहती है।

उन प्रारम्भिक दिनों में, जब स्वामीजी तथा उनके गुरुभाई दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास जाते उस समय माँ साक्षी के रूप में विद्यमान रहतीं। वे माधुर्यमयी हैं, पूर्ण शान्त हैं और कितनी ज्योतिर्मयी हैं ! अब मैं और भी गहराई से समझ पा रही हूँ कि वे कितनी वास्तविक रूप से श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी हैं। माँ का सान्निध्य अपूर्व है ! अपूर्व है ! अपूर्व है ! यह बात मैं शब्दों में नहीं समझा सकती। उस स्थान (बागबाजार में श्रीमाँ का आवास, अब १, उद्बोधन लेन, कोलकाता ७०० ००३) का एक परम अस्तित्व वास्तव में वहाँ विद्यमान है। मनुष्य के अन्तर्लोक से परिपूर्ण एक कल्पना लोक यहाँ है – निश्चित रूप से है।

अहा, माँ के घर का कैसा माधुर्य है ! वहाँ दिन का कार्य शुरू होने से पूर्व यदि कोई किसी कार्यवश पहुँच जाय, तो उसे कितना प्रेम तथा आशीर्वाद मिलता है ! और वहाँ यही भाव व्याप्त है – "तुमसे कुछ नहीं चाहिये, तुम आये हो, अहा, यही बड़ी अच्छी बात है !" यह अवर्णनीय है।

आज सभी कहते हैं कि स्वामीजी ही इस नवीन भावधारा के उद्गम हैं। वे लोग श्रीमाँ का चरण स्पर्श करने आते हैं और सारदानन्द किसी भी हालत में किसी को लौटाते नहीं। बहू और खोका[१२] माँ के चरण स्पर्श करने आये थे। खोका ही माँ को प्रणाम कराने बहू को लाया था। उस समय माँ ने कितना मधुर व्यवहार किया ! सभी (स्वदेशी) दल समवेत स्वर में कहते हैं – रामकृष्ण-विवेकानन्द से ही नयी चेतना आयी है। जेल से छूटने पर वे माँ को प्रणाम करने आते हैं।

सभी महान् राष्ट्रवादी यही कर रहे हैं – सभी स्वीकार करते हैं कि यह आह्वान स्वामीजी से ही आयी है। माँ कहती हैं – "इनका कैसा साहस है ! ऐसा साहस केवल ठाकुर और स्वामीजी ही ला सकते हैं। दोष यदि किसी का हो, तो उन्हीं का है !" अपूर्व ! माँ सचमुच ही अपूर्व हैं ! वे दोषरहित और पूर्ण हैं ! एक दिन मैंने माँ से कहा – 'माँ, श्रीरामकृष्ण ने जो कहा था कि एक दिन तुम्हारे असंख्य पुत्र होंगे, वह दिन तो लगभग आ गया है, सारा देश ही तुम्हारा हो चुका है।" वे बोलीं – "ऐसा ही तो देख रही हूँ।"

माँ अपनी वास्तविक आयु से कम दिखती हैं। उनकी आयु ५५ वर्ष से भी अधिक है, तथापि वे सदा आनन्दमग्न तथा कार्य में व्यस्त रहती हैं। मैं उनसे अधिक वयस्क दिखायी देती हूँ, जबकि मैं ४५ की भी नहीं हूँ। अपराह्न में जब माँ स्त्रियों से घिरी बैठी रहती हैं, तब उनके पास जाना बड़ा अच्छा लगता है। ११ वर्ष पूर्व जब मैंने पहली बार माँ का कण्ठ-स्वर तथा हास्य सुना था, आज भी वह वैसा ही तारुण्यमय है। उनकी प्रत्येक भाव-भंगिमा मनोहारी है। उनके सिर का एक भी बाल नहीं पका है।

---

११. स्वामी अभयानन्द (भरत महाराज) ने पुराने संन्यासियों से सुना था, उस मरणासन्न बालक ने कहा था – "सब नाम मिटाकर केवल एक ही नाम लिखो – सारदा।" (द्रष्टव्य – उद्बोधन, वर्ष ९१, संख्या १२, पौष १३९६ बंगाब्द , पृ. ७५२) – सम्पादक

१२. बहू अर्थात् आचार्य जगदीशचन्द्र बोस की पत्नी अबला बोस; निवेदिता आचार्य जगदीशचन्द्र को 'खोका' (शिशु) कहा करती थीं। तात्पर्य यह कि आचार्य बोस को निवेदिता अपने पुत्र के रूप में देखती थीं। इस नाते से अबला बोस उनकी बहू या पुत्रबधू थीं। – सम्पादक

११ दिसम्बर, १९१०ई. को मैं खूब सबेरे (बीमार) सारा (श्रीमती ओली बुल) के लिए गिरजाघर में प्रार्थना करने गयी थी। लौटकर मैंने माँ को पत्र लिखा – "वहाँ सभी लोग माता मरियम के बारे में सोच रहे थे, सहसा मुझे तुम्हारी याद आ गयी। तुम्हारा मधुर मुखमण्डल, तुम्हारी प्रेम से परिपूर्ण आँखें, तुम्हारी सफेद साड़ी, हाथ के कंगन – सब कुछ नेत्रों के सामने झलमला उठा। उस समय मैंने सोचा – एकमात्र तुम्हारा स्पर्श ही बेचारी सारा के रोगकक्ष को शान्ति तथा आशीर्वाद से परिपूर्ण कर सकता है। मैं सोचने लगी कि संध्या को ठाकुर की पूजा के समय तुम्हारे कमरे में बैठकर ध्यान करने का मेरा प्रयास कितना मूर्खतापूर्ण था। उस समय मैं क्यों नहीं समझ सकी कि एक छोटी बच्ची के समान तुम्हारे चरणों में बैठी रहना ही तो सब कुछ है ! माँ, तुम कितनी प्रेम से परिपूर्ण हो ! तुम्हारे प्रेम में हमारे समान उच्छ्वास या उग्रता नहीं है। वह जागतिक प्रेम नहीं है, वह तो स्निग्ध शान्ति है, जो सबका कल्याण करती है, किसी का अमंगल नहीं करती। वह स्वर्णिम आलोक से परिपूर्ण है, क्रीड़ा से परिपूर्ण है ! कई महीने पूर्व उस रविवार को, उस पुण्य दिन मैं गंगास्नान करके दौड़ती हुई क्षण भर के लिये तुम्हारे पास चली आयी थी। उस समय तुमने आशीर्वाद दिया था और मुझे तुम्हारे मधुर गृह में कितनी शान्ति और हल्केपन का अहसास हुआ था !

"ओ प्रेममयी माँ, काश मैं तुम्हें एक अद्‌भुत स्तोत्र या प्रार्थना लिखकर भेज पाती ! लेकिन मैं जानती हूँ, तुम्हारी तुलना में वह कोलाहलपूर्ण ही होगा ! सचमुच तुम ईश्वर की अपूर्वतम सृष्टि हो, श्रीरामकृष्ण अपने निस्संग तथा असहाय सन्तानों के लिए जो स्मृति-चिह्न छोड़ गये हैं, उस विश्वप्रेम को धारण करनेवाली तुम उनकी अपनी मंजूषा हो। सचमुच ही भगवान की सभी अपूर्व रचनाएँ नीरव हैं। वे अनजाने ही हमारे जीवन में प्रवेश करती हैं – जैसे वायु, रवि-रश्मियाँ, उद्यान के पुष्पों की सुगन्ध, गंगा की लहरें – ये सारी नीरव वस्तुएँ तुम्हारे ही समान हैं।"

उस समय गिरजाघर में सब लोग ईसा की माता मरियम का चिन्तन कर रहे थे। परन्तु मुझे तो श्रीमाँ ही मरियम माता प्रतीत हुईं। उनका सान्निध्य पवित्रता लाता है। श्रीरामकृष्ण चाहते थे कि हम सभी उन्हीं के समान बनें।

माँ जब कोलकाता से अपने गाँव चली जाती हैं, तब सब कुछ शून्य प्रतीत होता है। और जब वे यहाँ रहती हैं, तो मैं उनके श्रीचरण पखारने जाती हूँ। उसी ध्रुव-मन्दिर से आशीर्वाद ले आती हूँ। वे इतनी सीधी और सरल हैं, तथापि मेरी धारणा है कि वे वर्तमान विश्व की सबसे महीयसी नारी हैं।

उनके यहाँ (कोलकाता में) रहने पर हमें भरोसा रहता है।*

❖ (क्रमशः) ❖

* भगिनी निवेदिता की डायरी, उनके 'The master as I saw him' ग्रन्थ तथा पत्रों से शंकरीप्रसाद बसु ने इस लेख का संकलन किया और इसके बंगानुवाद का अधिकांश भाग 'निवेदिता लोकमाता' तथा 'शतरूपे सारदा' ग्रन्थों में प्रकाशित कराया। उन्होंने इस लेख में कहीं-कहीं योजक शब्द या वाक्य डालने की स्वाधीनता ली है। – सम्पादक

श्रीरामकृष्ण-उपदेशामृतम्

रवीन्द्रनाथ गुरुः

कृपणेषु यथार्थेषु स्पृहाऽस्ति बलवत्तरा ।
तथा लोभोऽस्तु ते विष्णुरङ्घ्रिसंसेवने सखे ।।१।।

– हे मित्र ! कंजूस का धन के प्रति जैसा प्रबल लोभ रहता है, वैसा ही लोभ तुम्हारा श्री भगवान के चरण-सेवन में हो।

फलोदये क्षयं यान्ति यथा पुष्पदलानि भोः ।
बोधोदये तथा बन्धो ! गर्व मोहाभिमानताः ।।२।।

– हे बन्धु, जैसे फल होने पर फूल गिर जाते हैं, वैसे ही ज्ञानोदय होने पर मान, मोह तथा अहंकार नष्ट हो जाते हैं।

हृदाकाशमिदं यावद् वासनातमसाऽऽवृतम् ।
ब्रह्म-सूर्योदयस्यास्मिन् तावदसम्भवः सखे ।।३।।

– हे बन्धु ! जब तक यह हृदय-आकाश वासना-अन्धकार से आच्छन्न है, तब तक ब्रह्मज्ञान-सूर्योदय सम्भव नहीं है।

मायायुक्ते हृदाकाशे हरिर्नैव विकाशते ।
मलाच्छन्ने यथा रूपं दर्पणे न प्रकाशते ।।८।।

– जैसे मलाच्छन्न दर्पण में स्वरूप प्रकाशित नहीं होता, वैसे ही मायायुक्त हृदय-गगन में श्रीहरि प्रकट नहीं होते।

तावद्-गुञ्जति भृङ्गोऽयं यावत्-पुष्पं न गच्छति ।
आसाद्यालिङ्गनं तस्य निःशब्दः षट्पदस्तदा ।।४।।

– भौंरा तभी तक गुनगुनाता है, जब तक वह फूल पर बैठ नहीं जाता। पुष्प का सान्निध्य पाते ही वह मौन हो जाता है।

पण्डितोऽयं तथा तावत्तर्के निरत एव च ।
शास्त्रार्थ-करणासक्तः स्वपाण्डित्य प्रदर्शकः।।५।।

– वैसे ही विद्वान् तब तक तर्क करने एवं शास्त्रार्थ करने में अनुरक्त हो अपनी पण्डिताई का प्रदर्शन करता रहता है;

सर्वशास्त्रैक वेद्यस्य सर्वेश्वरस्य वै भुवि ।
लभते नैव सद्भक्तिर्यावदङ्घ्रि-युगाब्जयोः ।।६।।

– जब तक कि वह संसार में शास्त्रों के प्रतिपाद्य सर्वेश्वर के चरण-कमलों में भक्ति-लाभ नहीं करता लेता।

दैवी सम्पदाएँ (३) ज्ञानयोग में निष्ठा

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में उन्हीं गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

गीता के दैवी-सम्पद् विभाग में 'अभयम्' और 'सत्त्वसंशुद्धि:' के अनन्तर 'ज्ञानयोग-व्यवस्थिति:' का उल्लेख है, जिसे आचार्य शंकर ने प्रधान दैवी-सम्पत्ति कहा है।

ज्ञान-योग-व्यवस्थिति: – यह समासयुक्त पद है और इसके विग्रह से दो अर्थ निकलते हैं। पहला है – ज्ञानरूपी योग में निष्ठा और दूसरा अर्थ है – ज्ञान और योग में निष्ठा। प्रथम विग्रह में ज्ञान की प्रधानता है तथा योग गौण और दूसरे में ज्ञान तथा योग दोनों स्वतंत्र व स्वयंपूर्ण पद हैं, जिनसे ज्ञाननिष्ठा व योगनिष्ठा – इन दो निष्ठाओं का बोध होता है।

विस्तृत विवेचन से पूर्व उपर्युक्त सामासिक पद के तीनों पदों का सामान्य अर्थ जानना आवश्यक है। **ज्ञान का तात्पर्य** विद्या, परावाणी, सद्-असद्-विवेक तथा सांख्य दर्शन की विवेक-ख्याति से है। **योग** युज् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है जोड़, मिलना, संगति, संहनन, अवस्थिति, उपाय, साधन, युक्ति, शैली, ध्यान, आदि। अमरकोश में लिखा है – **योग: संहननोपाय-ध्यानसंगति-युक्तिषु**। इष्ट और अनिष्ट ग्रहों की अनुकूल तथा प्रतिकूल स्थिति के लिये ज्योतिष में योग शब्द का प्रयोग होता है।

महाभारत में यह शब्द 'योग-साधन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है – **एको हि योगोऽस्य भवेद् बधाय** (द्रोणपर्व, १८१/३१)। पतंजलि के योग-दर्शन में यह चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए आया है। श्रीधराचार्य ने अपनी टीका में – **ज्ञानयोगे आत्मज्ञानोपाये व्यवस्थिति: परिनिष्ठा** – लिखकर योग का पर्याय 'उपाय' दिया है और शंकराचार्य को 'एकाग्रता' अभीष्ट है। गीता के **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (९/२२) में अप्राप्त की प्राप्ति को योग कहा गया है – **अप्राप्तस्य प्रापणं योग:**।

योग: कर्मसु कौशलम् (२/५०) और **समत्वं योग उच्यते** (२/४८) – में कर्मो में कौशल तथा समत्वभाव को भी 'योग' से परिभाषित किया है। सामान्यत: गीता में योग 'कर्म' के अर्थ में है और जहाँ केवल 'योग' शब्द ही प्रयुक्त है, वहाँ उसका अभिप्राय 'कर्मयोग' से है। पाली भाषा के बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्द-प्रश्न' में 'पुब्बयोग' 'पूर्वकर्म' के लिये प्रयुक्त है। **पुनर्योगं च शंससि** (५/१), **सांख्य योगौ पृथक् बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:** (५/४), **योऽयं योगस्त्वया प्रोक्त:** (७.३३) आदि गीतोक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि 'योग' कर्म के लिये प्रयुक्त होता है।

अन्तिम पद **व्यवस्थिति:** का अर्थ है – निष्ठा, स्थिति, अनुष्ठेय। गीता में सांख्ययोग, **ज्ञानयोग या ज्ञाननिष्ठा** और निष्काम कर्म, कर्मयोग या कर्मनिष्ठा नाम से दो निष्ठाओं का वर्णन है –

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा
पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां
कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३/३

शास्त्रों में इन्हें निवृत्तिपरक तथा प्रवृत्तिपरक धर्म निरूपित किया है और वेद में भी ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड का प्रतिपादन हुआ है। महाभारत में उल्लेख है –

द्वाविमावथ पन्थानौ
यस्मिन् वेदा: प्रतिष्ठिता:।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्म:
निवृत्तिश्च विभाषित:॥ (शा., २४०/६)

ज्ञान निवृत्ति-लक्षण और योग प्रवृत्ति-लक्षण है – **प्रवृत्ति-लक्षणो योग: ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।** (वही, अश्व. ४३/२५)

किं ज्ञानम्? प्रथम प्रश्न है – ज्ञान क्या है? इसके उत्तर में वेदान्त का कथन है – **'प्रज्ञानं ब्रह्म।'** अर्थात् ज्ञान ही ब्रह्म है। वह आनन्द है और आनन्द स्वयं ब्रह्म है – **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।'** (बृहदा., ३/९/२८) गीता के १३वें अध्याय में ७ से ११ तक के ५ श्लोकों में ज्ञान के २० लक्षणों का उल्लेख है –

(१) अमानित्वम् – अभिमान का अभाव।

(२) अदम्भित्वम् – अपने स्वभाव तथा कार्य का वर्णन दम्भ है और उसका अभाव अदम्भिता।

(३) अहिंसा – मन, वाणी और कर्म से अहिंसा।

(४) क्षान्ति – क्षमाशीलता।

(५) आर्जवम् – मन और वाणी की सरलता।

(६) आचार्योपासनम् – श्रद्धा-भक्ति सहित निश्छल भाव से गुरुसेवा।

(७) शौचम् – शारीरिक मलों को मिट्टी और जल आदि से साफ करना और अन्तर्मन के आसक्ति आदि मलों का प्रतिपक्ष भावना अर्थात् विरुद्ध-गुणाश्रय से अपनयन।

(८) स्थैर्यम् – अन्त:करण की स्थिरता।

(९) आत्मविनिग्रह – शरीर और मन का निग्रह।

(१०) इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् – इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों और सांसारिक तथा पारलौकिक भोगों में आसक्ति का अभाव।

(११) अनहंकार – अहंकार का अभाव।

(१२) जन्ममृत्युजराव्याधि दु:खदोषानुदर्शनम् – जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, शारीरिक व मानसिक रोग और दैहिक दैविक तथा भौतिक तापों के कारणों का अनुचिन्तन।

(१३) असक्ति – आसक्ति-विषयक वस्तुओं में प्रीति का अभाव।

(१४) अनभिष्वङ्ग – पुत्र, पत्नी, गृह, परिजन आदि में विशेष ममता का अभाव।

(१५) समचित्तत्वम् – इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति पर चित्त की एकतुल्यता।

(१६) भक्ति – अनन्य योग से ईश्वर की अव्यभिचारिणी भक्ति।

(१७) विविक्त-देश-सेवित्वम् – निर्जन, पवित्र, शान्त और हिंसक प्राणियों के भय से रहित स्थान में रहने का स्वभाव। निर्जन स्थान में मन प्रसन्न रहता है और आत्मा आदि की भावना उत्पन्न होती है।

(१८) जन-संसदि अरति – संस्कारहीन, विनयरहित और विषयासक्त लोगों में अनुराग का अभाव।

(१९) अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम् – अध्यात्म-ज्ञान की नित्यता।

(२०) तत्त्व-ज्ञानार्थ-दर्शनम् – तत्वज्ञान के अर्थ-फल की आलोचना-विवेचना तथा तत्वज्ञान के अर्थ-विषय परमात्मा का सर्वत्र दर्शन।

चूँकि ये ज्ञान के साधन हैं। अत: सब ज्ञान है और इससे जो इतर है वह अज्ञान है।

सामान्यत: ज्ञान तीन प्रकार का है – सात्त्विक, राजस और तामस। जिसके द्वारा सभी प्राणियों में एक भाव के दर्शन होते हैं, विभक्तों में अविभक्त दिखाई देता है वह ज्ञान **सात्त्विक** है। जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य प्राणियों में नाना भावों को विभिन्न प्रकार से अलग-अलग देखता है, वह **राजस** है, और जो एक कार्य में – एकांश शरीर और इस लोक में सर्वांश की निष्कारण आसक्ति, असत्य ज्ञान एवं अत्यल्प भावना है, वह **तामस** ज्ञान है। (१८/२०-२२)

किं ज्ञेयम्? ज्ञान को जानने के पश्चात् जिज्ञासा होती है, ज्ञेय क्या है? किसे जाना जाय? क्या यह दृश्य जगत ज्ञेय है? नहीं, यह तो असत् है। इसकी प्रातिभासिक सत्ता है। ज्ञेय तो केवल वही अनादि परब्रह्म परमात्मा है। वह न सत् है न असत्, न भावरूप है न अभावरूप। वह अवर्णनीय है। उसके हाथ, पैर, आँख, कान और मुख सब ओर फैले हुए हैं। वह निखिल ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों को आभासित करता हुआ भी इनसे परे है, वह आसक्तिहीन सबका भरण करने वाला निर्गुण और गुणों का आगार है। वह सम्पूर्ण भूतों के बाहर और भीतर चर तथा अचर है। दूर और पास है। सूक्ष्म होने के कारण भौतिक तत्त्वों के समान ज्ञेय नहीं हैं। वह अविभक्त और प्राणियों में विभक्त है। उसमें संसार के सृजन, पालन तथा संहार की शक्तियाँ निहित हैं। वह नक्षत्रों का भी नक्षत्र और तमस् या अज्ञान से परे है। सभी प्राणियों के हृदय में स्थित वह परमात्मा ज्ञेय और ज्ञानगम्य है। (गीता १३/१२-१७)

ऋते-ज्ञानात् न मुक्ति: –

ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। जीव अविद्या अर्थात् कर्म के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है – **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते**।

कर्म से जीव बन्धन में बँधता है, इसलिए आत्मदर्शी यति कर्म नहीं करते –

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतय: पारदर्शिन:।
(महाभारत, शान्ति., २४१/७)

ज्ञानरूपी नौका से पापों के सागर को पार किया जा सकता है। (४/३६) जिस प्रकार अग्नि इन्धन को जला देती है, उसी तरह ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर देती है। (४/३७) ज्ञान के समान पवित्र करने वाला दूसरा कुछ भी नहीं है। (४/३८) ज्ञान को प्राप्त कर जीवात्मा शीघ्र ही परमशान्ति को प्राप्त होता है। (४/३९) सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं – **सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते**। (४/३३) – उस परावर परमात्मा को देखने पर, उसकी अनुभूति कर लेने पर ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है – **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे**। (मुण्डक., २२/८)

कर्मक्षय होने पर ज्ञानी को फिर कोई भी कर्तव्य कर्म नहीं रहते। वह किसी प्रकार का कर्म नहीं करता। जो ज्ञानवान्

है, सदा पवित्र है, जिसका मन वश में है, उसकी इन्द्रियाँ सधे हुए घोड़ों के समान वश में रहती हैं, उसे वह पद मिलता है, जहाँ से वह पुर्नजन्म के चक्र में नहीं बँधता –

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।। (कठ.,१/३/६)
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।। (वही, १/३/८)

कर्मयोगेन योगिनाम् –

भगवान श्रीकृष्ण ने ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित कर अर्जुन को लड़ने और अपने कर्तव्य निभाने के लिए प्रेरित किया। **तस्माद् युध्यस्व भारत** – अतः हे अर्जुन, युद्ध करो (२/८), **तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय** – अतः हे अर्जुन, युद्ध के लिये निश्चय करके उठकर खड़े हो जाओ, (२/३७), **तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर** – अतः निरन्तर अनासक्त भाव से अपने कर्तव्य का पालन करो (३/१९), **कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्** – अतः तुम कर्म करो (४/१५), **कर्म कर्तुम् इहार्हसि** – संसार में कर्म करना ही उचित है (१६/२४), **एतानि अपि तु कर्माणि ... कर्तव्यानीति ... निश्चितं मतमुत्तमम्** – ये कर्म भी करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है (१८/६), आदि गीतोक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि उसमें न तो कर्म की उपेक्षा है और न उसकी गरिमा तथा अनिवार्यता विस्मृत है। भगवान ने अर्जुन से बार-बार कर्म करने का आग्रह किया है।

को योगः किं कर्म? –

कर्म-विचिकित्सा अर्थात् कर्म के विषय में संशय होने पर प्रश्न उठता है – योग अर्थात् कर्म क्या है? यह प्रश्न बड़ा जटिल है। इसका उत्तर देने में ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं – **किं कर्म किंमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः**। भगवान कृष्ण ने प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले देवताओं के निमित्त द्रव्य-त्याग- रूप यज्ञ को विसर्ग अर्थात् कर्म कहा है। (८/३) **वैदिक ग्रन्थों में कर्म शब्द का प्रयोग यज्ञ और नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान आदि के लिए हुआ है।** प्राचीन काल में इष्टापूर्त अर्थात् पुत्रादि तथा स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए यज्ञ किये जाते थे। उनके पीछे कामना होती थी, अतः वे सकाम होते थे। मीमांसा दर्शन ने कर्म को ही ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति का प्रमुख साधन माना है। किन्तु औपनिषदिक चिन्तन में इस सकाम कर्म पर प्रश्न-चिह्न लगाया गया है और कर्म की अपेक्षा ज्ञान, अध्यात्म तथा आत्मचिन्तन को महत्त्व दिया गया। इसीलिये सकाम कर्म के निर्देशक वेदों को गीता में **त्रैगुण्यविषयाः वेदाः** कहकर त्रिगुणातीत होने को कहा गया। फलाकांक्षा से किया जानेवाला कर्म विकर्म, और लोक तथा शास्त्र से निषिद्ध कर्म अकर्म है।

कर्म और कर्ता के प्रकार –

कर्म और कर्ता के तीन-तीन प्रकार हैं। जो कर्म आसक्ति और राग-द्वेष से परे होकर फल की आकांक्षा के बिना किया जाता है, वह सात्त्विक है। अहंकार, कामना और अनेक प्रयासों से किया जानेवाला कर्म राजस और परिणाम, हानि, हिंसा व सामर्थ्य का विचार किये बिना अज्ञान के वशीभूत होकर जो कर्म किया जाता है, वह तामस है। (१८/२०-२२)

इसी प्रकार इन त्रिविध कर्मों का कर्ता भी सात्त्विक, राजस और तामस होता है। आसक्ति और अहंकार से रहित, धैर्य व उत्साह से युक्त, सिद्धि तथा असिद्धि में निर्विकार भाव रखनेवाला कर्ता सात्त्विक; आसक्ति तथा कर्मफल की आकांक्षा का लोभी, हिंसक, अपवित्र, हर्ष तथा शोक से युक्त कर्ता राजस; और चंचल चित्तवाला, मूर्ख, अभिमानी, शठ, दुष्कर्मी, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहा जाता है। (१८/२६-२८)

कर्मों का अन्य विभाजन भी है – **(१) विहित कर्म** – विधिपूर्वक की गयी यज्ञादि क्रिया विहित कर्म है। **(२) काम्य कर्म** – फल की इच्छा से किया गया कर्म काम्य है ओर ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए कामना सहित कर्म अकाम्य है। **(३) निषिद्ध कर्म** – शास्त्रों ने जिन कर्मों को निषिद्ध किया है। इन निषिद्ध कर्मों को शास्त्र विधि का परित्याग कर अपनी इच्छा से जो सम्पन्न करता है, वह न सिद्ध को, न सुख को और न परम गति को प्राप्त करता है। (१६/२३) **(४) उदासीन कर्म** – जो विधि-निषेध से भिन्न है।

संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण कर्म; नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्म; श्रौत कर्म तथा स्मार्त कर्म – आदि और भी कर्म-विभाजन हैं। पुण्य-पाप-रूप कर्मों का फल इष्ट-अनिष्ट तथा मिश्र तीन प्रकार का होता है। (१८/१२) अधिष्ठान अर्थात् शरीर, कर्ता, करण-इन्द्रियाँ, चेष्टा और दैव – ये पाँच प्रत्येक प्रकार के कर्म के साधन हैं। (१८/१४) भोगे बिना कर्मफल का क्षय नहीं होता – **नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि-शतैरपि** – जब तक कर्मफल का भोग शेष है, तभी तक स्वर्गादि है। कर्मफल समाप्त होने पर जीव को पुनः मर्त्यलोक में आकर जन्म-मरण के चक्र में बँधना नहीं पड़ता।

न बुद्धिभेदं जनयेत् –

भगवान श्रीकृष्ण ज्ञान और कर्म की दो निष्ठाओं का वर्णन करके ज्ञान को ही मोक्ष का साधन बताने पर भी अर्जुन को कर्म करने का निर्देश करते हैं। तब अर्जुन हाथ जोड़कर उनसे निवेदन करते हैं – "प्रभो, जब कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है, तब मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं? कर्म करने का आग्रह बार-बार क्यों करते हैं? मैं आपके इस घुले-मिले कथन से

भ्रमित हूँ। अत: निश्चय करके किसी एक निष्ठा का ही निर्देश कीजिये; ताकि मैं हित-साधन कर सकूँ। (३/१-२) आपको कर्मासक्त अज्ञजनों की बुद्धि को विचलित नहीं करना चाहिए।'' (३/२६)

कर्म ज्यायो ह्यकर्मण: –

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – ''हे अर्जुन, कर्म तो प्रत्येक जीव को करने ही पड़ते हैं। वह एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न गुणों के द्वारा विवश होकर वह कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है और फिर कर्मों के अनारम्भ से, न तो वह निष्कर्मता को प्राप्त है और न उनके त्याग से सिद्धि को ही प्राप्त कर सकता है। हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने से तो शरीर की यात्रा भी सम्भव नहीं है। अकर्म से – तमोगुण-जनित प्रसाद और आलस्य से, कामचोरी से – तो कर्म ही श्रेष्ठ है।

सांख्य-योगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता: –

.सांख्य तथा योग को अर्थात् ज्ञानयोग एवं कर्मयोग को मूर्ख लोग ही अलग-अलग बताते हैं, ज्ञानीजन नहीं; क्योंकि दोनों में से यदि एक के प्रति भी निष्ठा है तो फल की प्राप्ति हो जाती है। जो स्थान ज्ञानियों के लिए नियत है, वही कर्मयोगियों को भी मिल जाता है। (५/४-५) जो कर्मफल को न चाहता हुआ कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है। केवल अग्नि और यज्ञानुष्ठान रूप कर्म का त्याग करने वाला संन्यासी तथा योगी नहीं है। जो संन्यास है, वही योग है, क्योंकि बिना संकल्पों – कामनाओं का त्याग किये संन्यास नहीं है और कर्मफल के त्याग के बिना कर्मयोग भी नहीं होता। इस प्रकार परमार्थ संन्यास और कर्मयोग में कर्ता के भाव से सम्बन्ध रखनेवाली त्याग-विषयक समानता है – **एवं परमार्थ-संन्यास-कर्मयोगयो: कर्तृ-द्वारकं संन्यास-सामान्यम्।**' (६/२ पर शांकरभाष्य) जो मन से इन्द्रियों के भोग-विषयों का स्मरण करता है, पर कर्मेन्द्रियों को संयमित कर कर्म का परित्याग करता है, वह वस्तुत: मूढ़ात्मा और मिथ्याचारी है; (३/५) संन्यासी नहीं है। सही संन्यास तो काम्य कर्म का त्याग है। फल की आकांक्षा ही चित्त के विक्षेप का हेतु है। यदि इसका त्याग हो गया, तो निष्कर्मता की सिद्धि प्राप्त होती है। इससे जीव ब्रह्मानन्द की अनुभूति और शाश्वत शान्ति का अधिकारी बन जाता है। ज्ञान और कर्मासक्ति तथा फलासक्ति से रहित कर्म का फल मोक्ष ही है। इसलिए इन दोनों में अन्तर समझना उचित नहीं है।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

काली-माता

स्वामी विवेकानन्द

(१८९८ ई. में क्षीरभवानी की अपनी यात्रा के दौरान स्वामीजी ने श्रीनगर-कश्मीर में इस कविता की रचना की थी। लोग जीवन के मधुर पक्ष से ही प्रेम करते हैं। इस कविता में प्रकृति रूपी जगदम्बा के विकराल रूप का वर्णन हुआ है और अन्त में निष्कर्ष के रूप में बताया गया है कि जो साहसी व्यक्ति माँ काली के इस भयावह रूप को अपना सकता है, उससे प्रेम कर सकता है, उसी को ईश्वर की प्राप्ति रूप जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि होती है। आंग्ल भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है। – सं.)

तारागण हो गये लुप्त हैं, नील गगन से,
मेघ सभी आच्छन्न हो गये हैं, मेघों से;
घूर्णिमान झंझा में भीषण पवन गरजता,
घोर अँधेरा स्पन्दन और प्रतिध्वनि करता।।

ऐसा लगता कोटि कोटि उन्मादी जन के,
प्राण निकल आये हों, मानो कारागृह से;
बड़े-बड़े वृक्षों को जड़ से ही उखाड़ती,
चली जा रही वह, सब कुछ पथ से बुहारती।।

काले नभ को छू लेने, आकर सागर भी,
उठा रहा उत्ताल तरंगें, गिरि-सम ऊँची;
परम घोर आतंक मृत्यु-छायाएँ अगणित,
विकट दामिनी चमक-चमककर करे प्रकाशित।

मृत्युरूपिणी काली, तुम धर रूप भयंकर,
विखराती हो दु:ख-व्याधियाँ, सारे जग पर,
हो आनन्दोन्मत्त नृत्य करती तुम अम्बे,
आओ मेरे जीवन में, आओ जगदम्बे।।

'विकराली' है नाम, मृत्युमय तेरी साँसें,
तेरा हर पदचाप, एक ब्रह्माण्ड विनाशे;
'काल' रूप में माँ, तू ही है सर्व-नाशिनी,
आओ मेरे जीवन में, आ जाओ जननी।।

परम साहसी है, दु:खों से प्रेम करे जो,
और मृत्यु से आलिंगन को है प्रस्तुत जो;
काल-नृत्य में भी जो अभय नाचता-गाता,
उसके ही जीवन में आतीं काली-माता।।

माउंट आबू में तीन माह

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

(२८ अप्रैल से २४ जुलाई तक – अनुमानित)

अजमेर-भ्रमण तथा पुष्कर-दर्शन करने के बाद स्वामीजी माउंट आबू की ओर चले। गर्मी का मौसम उनसे सहन नहीं होता था, अत: उष्णता से राहत पाना भी उनका यहाँ आने का एक मुख्य उद्देश्य था। यहाँ उन्होंने लगातार करीब पौने तीन माह निवास किया था। इस दौरान उन्होंने कई बार अपने रहने का स्थान बदला। प्राप्त तथ्यों से लगता है कि प्रारम्भ में वे टीका-अधिकारी के प्रधान लिपिक श्री मुरारीलाल के यहाँ ठहरे। इसके बाद वे सम्भवत: छालेसर के ठाकुर मुकुन्द सिंह के साथ रहने चले गये, जहाँ उनकी हरविलास सारदा से भेंट हुई। तदुपरान्त उन्होंने चम्पा नामक निर्जन गुफा में एकाकी रहकर ध्यान तथा साधना में मनोनियोग किया और बाद में किशनगढ़ के मुसलमान वकील मुंशी फैज अली के अनुरोध पर किशनगढ़ कोठी में चले आये, जहाँ से वे खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह से मिलने जाया करते थे।

अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में वे माउंट आबू पहुँचे और दो-एक दिन बाद ही ३० अप्रैल को उन्होंने अपने अलवर के शिष्य **लाला गोविन्द सहाय विजयवर्गीय** को एक पत्र लिखा। यह पत्र उनकी जीवनियों तथा ग्रन्थावली में आंशिक रूप से ही प्राप्त होता है। उसका परिवर्धित रूप अलवर के प्रसंग में उद्धृत किया जा चुका है। उसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है – "... यह आबू स्थान अतीव सुन्दर है, पर यहाँ का पीने का पानी बड़ा खराब है। मैं यहाँ Vaccination officer (टीका अधिकारी) के प्रमुख लिपिक श्रीयुत मुरारीलाल के घर में हूँ। ये तुम्हारे डॉक्टर बाबू के एक विशेष मित्र हैं और इसी कारण इन्होंने मुझे बड़े यत्नपूर्वक रखा है।"

माउंट आबू से लिखे स्वामीजी के उक्त पत्र से ज्ञात होता है कि वहाँ पहुँचकर सर्वप्रथम उन्होंने अलवर के डॉ. गुरुचरण लश्कर के मित्र तथा वहाँ के टीका अधिकारी के प्रमुख लिपिक श्रीयुत मुरारीलाल के घर में निवास किया था। सम्भव है डॉ. लश्कर ने ही स्वामीजी को अपने मित्र के नाम परिचय-पत्र दिया रहा हो। स्मरणीय है कि इस तथ्य का अन्यत्र कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है।

आबू से अलवर के लाला गोविन्द सहाय के नाम लिखा एक अन्य पत्र भी मिलता है, जिस पर दिनांक नहीं है, परन्तु लगता है कि यह बाद में लिखा गया है। उक्त दोनों पत्रों में स्वामीजी ने अलवर के अपने सभी शिष्यों तथा मित्रों का समाचार पूछा है और विशेष परिश्रम के साथ संस्कृत सीखने की हिदायत दी है। गोविन्द सहाय को उन्होंने शिवपूजा का उपदेश दिया है और हरबक्स को प्राणायाम की विधि बतायी है। साथ ही लिखा है – "धर्म का रहस्य आचरण से जाना जा सकता है, व्यर्थ के मतवादों से नहीं। सच्चा बनना और सच्चा बर्ताव करना – इसी में समग्र धर्म निहित है।"

माउंट आबू का परिचय

यह अजमेर से १४५ किलोमीटर तथा आबू रोड स्टेशन से २५ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। अरावली की पर्वत-मालाओं में लगभग ५००० फीट की ऊँचाई पर स्थित १४ मील लम्बा तथा २०४ वर्गमील में फैला माउंट आबू या अर्बुदाचल भारत का एक अति सुरम्य पर्वतीय स्थान है। आबू हजारों वर्षों से राजस्थान का सांस्कृतिक प्रेरणा-केन्द्र बना हुआ है। वहाँ के प्राचीन प्राकृत तथा डिंगल साहित्य में मुख्यत: यहीं के राजाओं की वीरता, उदारता तथा दानशीलता का वर्णन है।

यहाँ के विशाल नक्की झील के बारे में किम्वदन्ती है कि इस झील को देवताओं ने अपने हाथ के नखों से खोद-खोदकर बनाया था, इसीलिये इसका नाम 'नखी' झील पड़ा और कालान्तर में अपभ्रंश होकर 'नक्की' झील हो गया। यहाँ के सन-सेट-प्वाइंट (सूर्यास्त-दर्शन-स्थल) की प्राकृतिक दृश्यावली अत्यन्त मनोरम है। सूर्यास्त के समय यहाँ सूर्य की किरणों से बिखरे सात रंगों से उत्पन्न अविस्मरणीय दृश्य देखने के लिये प्रतिदिन बड़ी संख्या में लोग एकत्र होते हैं।

यह हिन्दुओं तथा जैनियों – दोनों की ही दृष्टि में एक तीर्थस्थल है। यहाँ के वशिष्ठ-आश्रम में वशिष्ठ तथा अरुन्धती की मूर्तियाँ हैं और गोमुख से जल गिरता रहता है। ९ मील दूर स्थित गुरुशिखर से आसपास की बड़ी मनोरम दृश्यावली दिखाई देती है। वहाँ एक मन्दिर के बाहर ६०० वर्ष पुराना एक घण्टा लटक रहा है। ६ मील दूर अचलगढ़ में अचलेश्वर महादेव का मन्दिर है।

दिलवाड़ा में संगमरमर के बने जैन मन्दिर अपनी कला तथा कारीगरी के लिये विश्वविख्यात हैं। यहाँ के पाँच मन्दिरों के नाम हैं – विमल वसहि, लूण वसहि, पित्त लहर, चौमुखी करतर वसहि और वर्द्धमान स्वामी का मन्दिर।

विमल वसहि – दिलवाड़ा के पश्चिम में स्थित है और इसमें पार्श्वनाथ की मूर्ति है। इस मन्दिर के निर्माता विमल शाह चालुक्य राजा भीमदेव प्रथम के सेनाधिपति थे। इसका निर्माण १०३१ ई. में १८ करोड़ ५३ लाख की लागत से हुआ। इसे पूरा करने के लिए १२०० मजदूरों तथा १५०० कारीगरों ने १४ वर्ष तक कार्य किया। लगभग १४ मील दूर स्थित आरासूर पहाड़ी से हाथियों की पीठ पर संगमरमर पत्थर लाये गये थे। यद्यपि यह जैन मन्दिर है, तो भी एक मूर्ति में श्रीकृष्ण द्वारा कालीय-दमन का दृश्य है, दूसरी में लक्ष्मीजी शेष-शय्या पर लेटे भगवान विष्णु के पाँव दबा रही हैं। एक अन्य पट्ट पर हिरण्यकश्यप का वध दिखाया गया है। इस मन्दिर की उत्कृष्टता का उल्लेख करते हुए कर्नल टॉड ने लिखा है – "यह मन्दिर हिन्दुस्तान भर में सर्वोत्तम है और ताजमहल के सिवा किसी अन्य इमारत से इसकी तुलना नहीं हो सकती।" सुप्रसिद्ध इतिहासकार पं. गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा कहते हैं – "कारीगरी में इस मन्दिर की समता करनेवाला कोई मन्दिर भारत में नहीं है।"

दिलवाड़ा का दूसरा कलापूर्ण मन्दिर है – लूण वसहि। इसके गर्भगृह में नेमिनाथ की प्रतिमा है। इसका निर्माण महा-अमात्य वास्तुपाल तथा उनके अनुज तेजपाल ने १२३० ई. में १२ करोड़ ५३ लाख की लागत से करवाया। ये दोनों भाई बड़े ही शूर-वीर, पुण्यात्मा तथा उदार थे। मन्दिर का नाम छोटे भाई के पुत्र लूणसिंह के नाम पर रखा गया है। इस मन्दिर में भी अन्य जैन प्रतिमाओं के साथ कहीं कृष्ण जन्म का दृश्य दिखाया गया है, कहीं हंसवाहिनी देवी दिखाई दे रही हैं, तो कहीं समुद्र में विविध जीव क्रीड़ा कर रहे हैं।

इन दोनों मन्दिरों में ऐसी-ऐसी विलक्षण जालियाँ, पुतलियाँ, बेल-बूटे और नक्काशियाँ बनी हुई हैं कि दर्शक दाँतों तले अंगुली दबा लेता है। मन्दिरों में एक इंच भी स्थान खाली नहीं छोड़ा गया है। संगमरमर की जालियाँ तथा झालरें इतनी सफाई से तराशी गयी हैं कि लगता है मानो बुनी हुई झालरें ही पथरा गयी हों। इसकी छतों की सुन्दरता का तो कहना ही क्या! इनमें बनी हुई नृत्य की भाव-भंगिमा युक्त पुतलियों तथा संगीत-मण्डलियों के सिवा बीच में संगमरमर का एक झाड़ भी लटक रहा है, जिसकी प्रत्येक पत्ती में शिल्पकारी साकार हो उठी है। दोनों मन्दिरों का स्वरूप अत्यन्त भव्य है।

पित्तलहर – नाम के तीसरे मन्दिर का निर्माण भीमाशाह ने १४६८ ई. में कराया। इसमें पंचधातु की बनी हुई ऋषभदेव की १०८ मन की सुन्दर मूर्ति है। मन्दिर सुन्दर नक्काशी से युक्त है। चौथे – खरतर वसहि में भगवान आदिनाथ की चतुर्मुखी मूर्ति स्थापित है। यह मन्दिर तिमंजला है। ऊंचाई के कारण दूर से ही दिखाई देता है। पाँचवाँ – वर्द्धमान मन्दिर १४वीं सदी के बाद का है।[१]

स्वामीजी की पुरानी जीवनी में लिखा है – "स्वामीजी की जैन धर्म के विषय में बड़ी जिज्ञासा थी, अत: वे कई दिनों तक इन मन्दिरों की महिमा का निरीक्षण करते हुए कुछ काल के लिए मानो वे स्वयं भी एक जैन में परिणत हो गये थे। और उनका देशप्रेमी हृदय यह सोचकर गर्व से अभिभूत हो उठा कि भारत ने कला के ऐसे अद्भुत उदाहरण भी निर्माण किये हैं। जब वे मन्दिरों में नहीं घूम रहे होते, तो माउंट आबू के रत्नरूप वहाँ के झील के किनारे टहलते हुए मिलते। उस झील के किनारे – प्रार्थना की मुद्रा में एक संन्यासिनी (नन-रॉक) और झील में कूदने को उद्यत एक मेढ़क (टोड-रॉक) आदि विचित्र आकार वाली चट्टानें हैं। वह सारा स्थान उन्हें देवताओं के उद्यान जैसा प्रतीत होता था।"[२]

माउंट आबू की दिनचर्या

अन्यान्य स्थानों के समान ही आबू में भी अनेक लोग स्वामीजी के गुणों से आकृष्ट होकर उनके मित्र या भक्त बन गये। वे लोग प्रतिदिन संध्या के समय उनके साथ भ्रमण के लिए जाया करते थे। एक दिन वे लोग 'बेलीज वाक' नामक मार्ग पर टहलते हुए उस पर्वत के खास-खास मनोरम स्थानों के बारे में आपस में चर्चा कर रहे थे। पर्वत के नीचे ही आबू की झील फैली थी। स्वामीजी ने अपने मित्रों के साथ 'वाक' (टहलने) का वह मार्ग छोड़ दिया और कुछ ऊपर जाकर शिलाखण्डों पर बैठकर गाना गाने लगे। गीत घण्टों चलता रहा। इधर कई अंग्रेज भी उसी समय टहलने निकले थे। वे सब संगीत की मधुरिमा से आकर्षित हो गायक के दर्शन के लिए रास्ते पर प्रतीक्षा कर रहे थे। अन्त में गायक के नीचे आ जाने पर उन लोगों ने उनके सुमधुर स्वर और भाव गाम्भीर्य की प्रचुर प्रशंसा की।

---

१. (क) हिन्दी विश्वभारती, लखनऊ, खण्ड ५, पृ. १७३९ और (ख) पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ, १९७७, नई दिल्ली में यशपाल जैन का लेख 'दिलवाड़ा के वैभवशाली मन्दिर', पृ. ४१५-१९

२. Life of Swami Vivekananda, by his Eastern and Western Disciples, Mayavati, Vol. 2, 1913, Pp. 146-47

ठाकुर मुकुन्द सिंह के निवास पर

स्वामीजी ने इस बार माउंट आबू में कई माह निवास किया था (सम्भवत: २८ अप्रैल से २४ जुलाई तक) कोई पौने तीन माह निवास किया था। सम्भवत: इस दौरान उन्होंने कई बार अपने निवास-स्थान बदले। बीच में उन्होंने ठाकुर मुकुन्द सिंह के घर में भी निवास किया। श्री सारदा ने उसी काल की घटनाओं का चित्रण किया है। खेतड़ी राज्य के वाकयात रजिस्टर में भी २४ जून, १८९१ के दिन आबू में राजा अजित सिंह के बँगले में महाराज, स्वामीजी, ठाकुर मुकुन्द सिंह तथा हरविलास के आपस में वार्तालाप का उल्लेख है। स्वामीजी के आबू-निवास से सम्बन्धित कुछ और भी जानकारी श्री हरविलास सारदा (१८६७-१९५५) की स्मृतिकथा में भी प्राप्त होती है। उनका जीवन-परिचय आगे – 'स्वामीजी के पुन: अजमेर आगमन' के प्रसंग में दिया जायेगा। स्वामीजी विषयक उनके संस्मरण सर्वप्रथम हमें अँग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के फरवरी १९४६ के अंक में प्राप्त होते हैं। तदुपरान्त १९५१ ई. में प्रकाशित अपने 'Recollections and Reminiscences' (स्मृतियाँ और संस्मरण) पुस्तक में अपनी दैनन्दिनी के आधार पर उन्होंने स्वामीजी विषयक अपनी स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। यहाँ पर हम इन्हीं दोनों स्रोतों से उनके तत्कालीन स्मरणों का संकलन तथा अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। श्री सारदा लिखते हैं –

"अपने एक मित्र छालेसर के ठाकुर मुकुन्द सिंह गर्मी का सुप्रसिद्ध पुण्यतीर्थ आबू पहाड़ देखने गया। ठाकुर मुकुन्द सिंह गर्मी का मौसम बिताने के लिए आबू में जाकर निवास कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर मैंने पाया कि स्वामी विवेकानन्द भी ठाकुर मुकुन्द सिंह के पास ठहरे हुए थे। ठाकुर मुकुन्द सिंह एक आर्यसमाजी तथा दयानन्द सरस्वती के अनुयाई थे। आबू में अपने मित्र के निवास पर मैं स्वामी विवेकानन्द के साथ लगभग दस दिनों तक रहा। उन दिनों मैं २१ वर्ष का था और स्वामीजी के व्यक्तित्व से मैं बड़ा प्रभावित हुआ। उनकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं और धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर वे धाराप्रवाह बोलते थे। वे बड़े विद्वान् थे तथा उनकी बातें बड़ी आनन्ददायी होती थीं।

"दिन में और शाम को आबू के सूर्यास्त प्वाइंट तथा अनाद्र प्वाइंट तक टहलते जाते समय हम सुदीर्घ वार्तालाप किया करते थे। पहले दिन रात को भोजन के पश्चात् ठाकुर साहब के अनुरोध पर स्वामीजी ने एक भजन गाया। अत्यन्त मधुर स्वर में उनका गायन सुनकर मुझे आनन्द हुआ। मैं उनके गायन पर मुग्ध हो गया था और प्रतिदिन उनसे एक या दो गीत सुनाने का आग्रह किया करता था। उनके संगीतमय कण्ठ तथा आत्मीयतापूर्ण व्यवहार ने मेरे मन में अमिट प्रभाव डाला। कभी-कभी हम लोग वेदान्त पर चर्चा करते। मुझे भी इस विषय का थोड़ा ज्ञान था। स्वामीजी के वेदान्त विषयक विचार मुझे बड़े रुचिकर लगे। मैं प्रत्येक विषय पर उनके विचारों का स्वागत किया करता था, क्योंकि वे देशभक्ति के भाव से परिपूर्ण रहा करते थे। मातृभूमि तथा हिन्दू संस्कृति के प्रति प्रेम उनमें कूट-कूटकर भरी थी। उनके सान्निध्य में बिताए हुए दिन मेरे जीवन के सर्वाधिक आनन्द-मय दिनों में गण्य हैं। उनके व्यक्तित्व की स्वाधीनता ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया।"[३]

१९२७ में प्रकाशित पण्डित झाबरमल शर्मा की 'खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द' (पृ. २) के अनुसार भी उस समय स्वामीजी ठाकुर मुकुन्दसिंह जी के यहाँ ठहरे हुए थे।

ठाकुर मुकुन्द सिंह : एक परिचय

ठाकुर मुकुन्दसिंह अलीगढ़ के पास स्थित छालेसर के रहनेवाले एक प्रसिद्ध आर्यसमाजी थे। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की जीवनी में भी ठाकुर साहब का उल्लेख मिलता है। १९२७ में प्रकाशित 'खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द' (पृ. २) नामक अपनी पुस्तक में पण्डित झाबरमल शर्मा लिखते हैं, "स्वामी विवेकानन्दजी पर उनकी श्रद्धा जम गयी थी। स्वामीजी भी उनसे बहुत प्रसन्न थे। आर्यसमाज के सिद्धान्त-ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' – इस वाक्य द्वारा मूर्तिपूजा का खण्डन किया गया है। ठाकुर मुकुन्दसिंह जी दुराग्रही नहीं, विचारशील व्यक्ति थे। धार्मिक आलोचना के सिलसिले में ठाकुर साहब ने प्रसंगवश कहा था कि 'इस खण्डन के द्वारा ही मूर्तिपूजा का होना सिद्ध है, क्योंकि जो वस्तु होती है उसी का खण्डन किया जाता है। इस विचार-शक्ति और निष्पक्षता की स्वामीजी प्रशंसा करते थे। स्वामीजी की विद्वत्ता का भी ठाकुर साहब पर बड़ा प्रभाव पड़ा था और वे उनके भक्त बन गये थे।"

चम्पा गुफा में तपस्या

सम्भवत: कुछ काल बाद स्वामीजी एकान्त में साधना करने के उद्देश्य से चम्पा नामक एक निर्जन गुफा[४] में जाकर निवास करने लगे थे। उनके सामानों में मात्र दो कम्बल, एक कमण्डलु और कुछ पुस्तकें थीं। एक दिन एक देशी रियासत के मुसलमान वकील उस रास्ते से गुजरते समय स्वामीजी को देखकर उनकी ओर आकृष्ट हुए। दो-चार मिनटों की बातचीत से ही वकील साहब समझ गए कि इन संन्यासी का

---

३. Recollections and Reminiscences (Memoirs), Ajmer, 1951, p. 18; (त्रैमासिक विवेक-ज्योति, वर्ष १९९६, अंक १, पृ. ६४-६५)

४. रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्दजी ने १९३२ ई. से करीब २५ वर्षों तक, प्रतिवर्ष गर्मियों में इसी गुफा में निवास किया और स्वामीजी की परिव्रज्या के दौरान उनकी उस गुफा में निवास की स्मृति में २ अक्तूबर १९६९ ई. के दिन एक शिलालेख भी लगवाया।

ज्ञान अगाध है। इसी आकर्षण के कारण वे अक्सर स्वामीजी का दर्शन करने वहाँ आते रहते थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी की कुछ सेवा करने की इच्छा व्यक्त की। स्वामीजी ने कहा, "देखिए वकील साहब, वर्षा आने लगी है, पर इस गुफा में दरवाजा नहीं है। इच्छा हो, तो एक जोड़ा किवाड़ बनवा दे सकते हैं।" इस पर सहमत होने पर भी वकील साहब ने कहा, "यह गुफा बड़ी खराब हालत में है। आप अनुमति दें, तो एक बात कहूँ। मैं यहाँ एक सुन्दर बंगले में अकेले ही रहता हूँ। यदि आप दया कर वहाँ रहने को राजी हों तो मैं कृतार्थ होऊँगा।" स्वामीजी के सहमत होने पर उन्होंने कहा, "लेकिन मैं मुसलमान हूँ। निश्चय ही मैं आपके लिए अलग भोजन की व्यवस्था कर दूँगा।" उन बातों पर बिना ध्यान दिए स्वामीजी उस बंगले में चले आए।

इससे स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि स्वामीजी का स्वभाव कितना उदार था तथा लोकनिन्दा आदि के भय से वे कितना ऊपर रहते थे। इस मुसलमान सज्जन के घर पर रहने के कारण ही स्वामीजी के जीवन में एक और भी अधिक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ। इस सूत्र से ही वे खेतड़ी-नरेश से परिचित हुए।

वकील साहब एवं उनके बन्धु-बान्धवों को लेकर आबू पहाड़ पर स्वामीजी के अनुगामियों का एक अच्छा खासा वर्ग बन गया। इसी तरह कोटा के वकील श्रीयुत महाराव तथा वहीं के मंत्री ठाकुर फतह सिंह से उनका परिचय हुआ।[४]

मुंशी फैज अली खान

स्वामीजी की अंग्रेजी जीवनी तथा 'युगनायक विवेकानन्द' ग्रन्थ में लिखा है कि आबू में वे एक निर्जन गुफा में निवास करते थे और बाद में एक देशी रियासत के मुसलमान वकील के बँगले पर चले आये, परन्तु वहाँ रियासत का नाम नहीं दिया है। स्वामीजी की पुरानी बँगला जीवनी तथा सत्येन्द्र नाथ मजुमदार द्वारा लिखित 'विवेकानन्द-चरित' में लिखा है कि कोटा के मुसलमान वकील के यहाँ ठहरे थे।

पण्डित झाबरमल्ल शर्मा बताते हैं कि वस्तुत: मुंशी फैज अली ही आबू में अंग्रेज पोलिटिकल एजेंट के पास किशन-गढ़ रियासत के वकील थे।[५] उनके बँगले में स्वामीजी के निवास का सत्यापन एक अन्य सूत्र से भी होता है। किशनगढ़ के 'विवेकानन्द आश्रम' में स्वामीजी की स्मृति में निर्मित एक कक्ष के उद्घाटन के अवसर पर ११ अप्रैल, १९८२ के दिन डॉ. फैयाज अली खान, एम.ए. पी.एच.डी. ने कहा था – "दो शब्द मैं इस आश्रम से अपने सम्बन्ध के विषय में भी कह दूँ। उसका बीज मेरे स्व. पिता मुन्शी मोहम्मद फैज अली खाँ साहब के श्री स्वामी विवेकानन्द जी से आबू में सम्पर्क प्राप्त करने से है। स्वामीजी मेरे पिता के निवास-स्थान, किशनगढ़ वकालत हाउस, माउंट आबू में रहे थे और वहीं से वे खेतड़ी महाराज के सम्पर्क में आये। इस कारण मैं अपने को धन्य मानता हूँ।"[६]

आबू में स्वामीजी कहाँ कहाँ ठहरे थे –

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी अपने माउंट आबू निवास के दौरान निम्नलिखित स्थानों में ठहरे थे – **१.** उनके स्वयं के पत्र के अनुसार सर्वप्रथम वे मुरारी-लाल के साथ ठहरे। तदुपरान्त – **२.** हरविलास सारदा की डायरी तथा पं. झाबरमल शर्मा के विवरणों के अनुसार छालेसर के ठाकुर मुकुन्दसिंह के यहाँ निवास कर रहे थे। **३.** एक देशी रियासत किशनगढ़ के एक मुसलमान वकील फैज अली के बँगले पर।

४. युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, खण्ड १, सं. १९९८, नागपुर, पृ. २७३

५. राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द, पं. झाबरमल्ल शर्मा, सं. पं. श्याम सुन्दर शर्मा, प्रथम सं. १९८९, भीलवाड़ा संस्कृति प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम खण्ड, पृ. ३२ तथा १५२-५३

६. 'स्वामी विवेकानन्द और किशनगढ़' स्मारिका, अक्तूबर १९८२ प्रकाशक – विवेकानन्द आश्रम, आनन्द घाट, किशनगढ़, राजस्थान

❖ (क्रमश:) ❖

स्वयं को जानो

तुम्हें कौन दुर्बल बना सकता है? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? जगत् में तुम्हीं तो एकमात्र सत्ता हो। अतएव उठो और मुक्त हो जाओ। ...मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनाने वाला संसार में जो कुछ है, वही पाप है और उसी से बचना चाहिए। तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़े, सैकड़ों चन्द्र चूर-चूर हो जायँ, एक के बाद एक ब्रह्माण्ड विनष्ट होते चले जायँ, तो भी तुम्हारे लिए क्या? पर्वत की भाँति अटल रहो; तुम अविनाशी हो। तुम आत्मा हो, तुम्हीं जगत् के ईश्वर हो। कहो, "शिवोऽहं, मैं पूर्ण सच्चिदानन्द हूँ।" पिंजड़े को तोड़ डालने वाले सिंह की भाँति तुम अपने बन्धन तोड़कर सदा के लिए मुक्त हो जाओ। *– स्वामी विवेकानन्द*
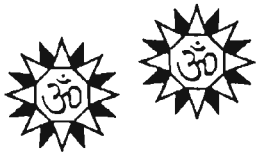
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (६)

भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तु किया जा रहा है। – सं.)

स्वामीजी के भ्रमण के वर्ष

अब उन लोगों के भ्रमण के वर्ष आरम्भ हुए। श्रीरामकृष्ण के ये शिष्य पैदल, बैलगाड़ी, ऊँट, हाथी और रेलगाड़ी से यात्रा करने लगे। इस प्रकार वे दक्षिणेश्वर से हिमालय और हिमालय से रामेश्वरम् तक भ्रमण करते रहे। कुछ तिब्बत गये और कुछ हिमालय की कन्दराओं में निवास करने लगे। जैसे वे राजमहलों में रहते, वैसे ही किसानों की कुटियाओं में भी ठहरते। बहुत वर्षों बाद ही दक्षिणेश्वर की गंगा के उस पार निर्मित मठ में वे सभी पुन: एकत्रित हो सके थे।

स्वामीजी भी, अपने देश की सहायता करने के लिए कुछ साधन जुटाने की अदम्य इच्छा से प्रेरित होकर भ्रमण पर निकल पड़े। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सर्वप्रथम वे उस बोधिवृक्ष के नीचे ध्यान करने को बोधगया गये, जहाँ २५०० वर्ष पूर्व बैठकर भगवान बुद्ध ने इस संसार-अरण्य से निकलने का मार्ग ढूँढ़ निकाला था।

यह कहना सहज नहीं होगा कि स्वामीजी के जीवन में बुद्ध का क्या स्थान था। उनका नाम लेते ही स्वामीजी का अन्तर्मन आलोड़ित हो उठता था। दिनों-पर-दिन वे उन्हीं के विषय में बोलते जाते। अपनी अभिनय-प्रतिभा के माध्यम से वे उनकी जीवन-कथा को हमारे सामने इतनी अन्तरंगता के साथ प्रस्तुत करते कि हम न केवल उसे देखते, अपितु उसके प्रत्येक दृश्य के साथ सक्रिय रूप से जुड़े रहते। ऐसा प्रतीत होता मानो ये घटनाएँ हमारे ही जीवन में और अभी हाल ही में घटित हुई हों। हमने युवराज सिद्धार्थ को, उनके महलों को, उनके प्रमोद-उद्यानों को और सुन्दरी यशोधरा को देखा, जिन्हें आगे आनेवाली घटनाओं का पूर्वानुमान हो रहा था। इसके बाद उनको एक पुत्र हुआ औरं उनके हृदय में एक आशा जगी। उन्होंने सोचा – यह पुत्र निश्चय ही उन्हें संसार तथा मेरे साथ बाँधकर रखेगा! परन्तु जब सिद्धार्थ ने उसे राहुल (बन्धन) नाम दिया, तो उस समय उनका दिल कैसा बुझ गया होगा! परन्तु वह भी उन्हें बाँधकर नहीं रख सका और उसका पुराना भय पुन: लौट आया। उस भय की छाया हम लोगों पर आ पड़ी। उसी की पीड़ा के समान हमें भी पीड़ा हुई। काफी काल बाद हमें याद आया कि स्वामीजी ने यह कथा सुनाते समय कभी ऐसा आभास नहीं दिया कि सिद्धार्थ का अपने पिता, राज्य, पत्नी तथा पुत्र के प्रति कर्तव्य और जो आदर्श वे अपनाना चाहते थे, उसके बीच उनके मन में कोई द्वन्द्व भी था। उन्होंने कभी अपने से नहीं कहा, "मैं अपने पिता का इकलौता पुत्र हूँ। उनके देहान्त के बाद कौन उनका कार्यभार सँभालेगा?" लगता है कि कभी ऐसा कोई विचार उनके मन में नहीं आया। क्या वे नहीं जानते थे कि वे एक महान् साम्राज्य के उत्तराधिकारी हैं? क्या वे नहीं जानते थे कि वे उस जाति के थे, जो कि शाक्य जाति की अपेक्षा अनन्त-गुना महान् थी? वे जानते थे – परन्तु बाकी लोग नहीं जानते थे और उनके मन में महान् करुणा थी। उसे सुनते हुए हम लोगों को उस करुणा की पीड़ा और इन सबके माध्यम से उनके अदम्य संकल्प का बोध हो रहा था। और इस प्रकार वे चले गये और पीछे रह गयी यशोधरा ने यथासम्भव उनका अनुसरण किया। वह भी फर्श पर सोती, साधारण वस्त्र धारण करती और दिन में केवल एक बार ही भोजन करती। सिद्धार्थ उनकी महानता को जानते थे कि वह भावी बुद्ध की पत्नी है? और उनके साथ सुदीर्घ मार्ग पर चली थी।

इसके बाद गौतम के हृदय-विदारक संघर्ष के दिनों का प्रसंग आया। उन्होंने एक-एक कर कई शिक्षकों का आश्रय लिया और एक-एक कर कई साधना-पद्धतियों का अभ्यास किया। महानतम तपस्या का अभ्यास करते हुए उन्होंने बहुत दिनों तक उपवास किया और शरीर को इतना पीड़ित किया कि वे मरणासन्न हो गये, परन्तु बाद में उन्हें बोध हुआ कि यह उचित मार्ग नहीं है। अन्त में इन सब पद्धतियों को छोड़कर वे बोधगया के उस पीपल के वृक्ष के नीचे आये और पूरे विश्व को सम्बोधित करते हुए कहा – **इहासने शुष्यतु मे शरीरं, त्वगस्थि-मांसं प्रलयञ्च यातु। अप्राप्य बोधिं बहुकल्प-**

दुर्लभाम् नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते ।। अर्थात् – "इसी आसन पर मेरा शरीर सूख जाय – त्वचा, हड्डियाँ तथा मांस नष्ट हो जायँ । अनेक जन्मों में भी जो ज्ञान दुर्लभ है, उसे पाये बिना मैं यहाँ से हिलने वाला नहीं हूँ ।"

उन्हें वहीं वह ज्ञान प्राप्त हुआ । और तब उन्होंने इस बार विजय के उल्लास में अपनी आवाज उठाकर कहा –

अनेक जन्मों तक मेरे जीवन के पाँव बँधे पड़े थे
सतत खोज करता रहा कि
इस दुःखपूर्ण इन्द्रियों के कारागार का
किसने निर्माण किया है
भयंकर संघर्ष के बाद
आज मैंने तुमको जान लिया है
तुमने जो पिंजरा बनाया था,
अब वह टूट चुका है
अब तुम फिर कभी पीड़ा देने के लिए
इस कारागार की रचना नहीं करोगे
और छलने के लिये भेद-स्तम्भ नहीं बनाओगे
अब घर छाना समाप्त हुआ
तुम भ्रम को नये-नये रूपों में मेरे सामने नहीं रखोगे
वहाँ से एक यान में विघ्नशून्य यात्रा होगी
और परिनिर्वाण में मेरा चलना समाप्त हुआ ।

इसके बाद वे अपने पिता के राज्य में लौटे । वृद्ध राजा आनन्द-विभोर हो गये । समाचार पाते ही उन्होंने परिव्राजक के स्वागत में राजधानी को भव्यता के साथ सजवाने का आदेश दिया । सभी आशान्वित थे – राजकुमार आ रहे हैं ! परन्तु राजकुमार के स्थान पर एक भिक्षु आया । परन्तु एक ऐसा भिक्षु ! भिक्षुओं के दल के अगुवा के रूप में वे आ रहे थे । यशोधरा ने उन्हें अपने छत पर से देखा । उन्होंने शिशु राहुल को अपने पास बुलाकर कहा, "जा, अपने पिता से अपना उत्तराधिकार माँग ले ।" बालक ने पूछा, "कौन हैं मेरे पिता?" वह अधीर भाव से तीखे स्वर में बोली, "सड़क पर आते सिंह को क्या तुम नहीं देख पा रहे हो?"

तब हम देखते हैं कि बालक अपने उत्तराधिकार के रूप में गैरिक वस्त्र पाने के लिए उन महिमामय व्यक्ति की ओर दौड़ रहा है । बाद में हम देखते हैं कि वही राहुल अपने पिता के पीछे-पीछे चलते हुए अपने आप से कह रहा है, "वे कितने सुन्दर हैं और मैं भी उन्हीं के समान दिखता हूँ । वे कितने भव्य हैं और मैं भी उन्हीं के समान दिखता हूँ ।" आदि आदि और तब भगवान उसके विचारों को जानकर पीछे मुड़कर उसे फटकारते हैं । इसके लिये प्रायश्चित के रूप में राहुल उस दिन भिक्षा माँगने नहीं गया, बल्कि एक वृक्ष के नीचे बैठकर प्राप्त हुए उपदेशों पर ध्यान करता है । परन्तु उस दिन पहली बार राजा तथा शाक्य के जागीरदारों ने बुद्ध के उपदेश सुने और एक-एक कर मार्ग का आश्रय लिया । यशोधरा को भी शान्ति एवं धन्यता की उपलब्धि हुई । दिन-पर-दिन दृश्य बदलते रहे । हम बुद्ध के जन्म के पूर्व से लेकर कुशीनगर में उनके अन्तिम क्षण तक उन्हीं में डूबे रहे और वहाँ के मल्ल राजाओं के समान हम भी – 'भगवान बुद्ध' – की याद में रो पड़े ।

वाराणसी में स्वामीजी ने कई माह बिताये और वे वहाँ के सन्तों तथा विद्वानों से चर्चा, अध्ययन तथा ज्ञानार्जन करते रहे । एक दिन वहाँ के एक प्रसिद्ध तथा वरिष्ठ साधु उन्हें एक बालक मात्र समझकर उनकी बातों पर नाराजगी जताने लगे । इस पर उन्होंने उत्तर दिया था – "अपने वज्रघोष से पूरे भारत को हिलाने के पूर्व मैं वाराणसी नहीं लौटूँगा ।" इसके बाद अपनी घोषणा को पूरा करने के काफी काल बाद १९०२ ई. में ही पुनः वे वाराणसी गये ।

वे हमेशा स्वयं को भारत की एक सन्तान तथा ऋषियों का वंशज मानते रहे । यद्यपि वे आधुनिकों से भी अधिक आधुनिक थे, तथापि शायद ही कोई अन्य हिन्दू उनके समान वैदिक दिनों तथा प्राचीन भारत के वनों में रहनेवाले ऋषियों के जीवन का सजीव चित्रण कर पाता था । प्राचीन ज्ञान का उनका उपदेश इतना सजीव लगता था, कि वस्तुतः कभी-कभी तो लगता कि सुदूर भूतकाल के ऋषियों में से ही किसी ने पुनः शरीर धारण किया है । जब उनसे पूछा गया कि उन्होंने श्रोताओं को रोमांचित कर देनेवाली 'वह अद्‌भुत सुर में श्लोकों की आवृत्ति' कहाँ से सीखी है, तो उन्होंने संकोच-पूर्वक एक स्वप्न या अलौकिक दर्शन की बात बतायी, जिसमें उन्होंने स्वयं को भी प्राचीन भारत के वनों में एक वाणी – पवित्र संस्कृत मंत्रों का उच्चारण करते देखा था । फिर उन्हीं दिनों एक अन्य स्वप्न या दर्शन में उन्होंने देखा कि ऋषिगण एक पवित्र अरण्य में एकत्र हुए हैं और आपस में चरम तत्त्व के विषय में प्रश्नोत्तर कर रहे हैं । उनमें से एक युवक ने आह्वान के सुर में गाया था –

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः ।
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

– "हे अमृत के पुत्रगण, तुम लोग सुनो ! हे दिव्यलोक के निवासी देवगण, आप लोग भी सुनिये ! मैंने उन पुरातन पुरुष को जान लिया है, जिन्हें जानने मात्र से ही मृत्यु पर विजय पायी जा सकती है ।"

उन्होंने बताया कि अपने भ्रमण के प्रारम्भिक दौर में वे किस प्रकार उन्होंने जाति सम्बन्धी अपने पूर्वाग्रह के साथ संघर्ष किया था । एक दिन जब उन्हें धूम्रपान करने की इच्छा हो रही थी,

तभी वे तम्बाकू पी रहे कुछ भंगियों के पास से होकर गुजरे। वे सहज भाव से आगे बढ़ गये। तभी उन्हें याद आया कि वे और निकृष्टतम कोटि के अछूत भी एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति हैं, तो उन्होंने मुड़कर अछूत के हाथ से हुक्का ले लिया।

वे जातिवाद के निन्दक नहीं थे। वे देखते कि इसने राष्ट्र के विकास में क्या भूमिका अदा की है और विगत काल में इसने किस उद्देश्य की पूर्ति की है। परन्तु जब यह प्रथा व्यक्ति को अपने मानव-बन्धुओं के प्रति निर्मम बना देती है, जब यह उसे भुला देती है कि अछूत और वह स्वयं एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति हैं, तब उसे तोड़ने का समय आ गया है, परन्तु आनन्द के लिए वे उसे तोड़ने के हामी नहीं थे।

स्वामी सदानन्द

इन भ्रमण के दिनों में ही स्वामीजी ने अपना पहला शिष्य बनाया। हाथरस के स्टेशन मास्टर ने एक दिन वहाँ आनेवाली ट्रेन में तृतीय श्रेणी[१] के मुसाफिरों के बीच एक संन्यासी को देखा, जो अद्भुत आँखोंवाला तथा उन्हीं की आयु का था। कुछ ही दिनों पूर्व एक रात उन्होंने स्वप्न में उन्हीं आँखों को देखा था। तभी से वे आँखें उनसे विस्मृत नहीं हो रही थीं। वे विस्मित तथा रोमांचित हो उठे। उन्होंने उन युवा संन्यासी के पास जाकर अनुरोध किया कि वे ट्रेन से उतरकर उनके निवास-स्थान पर चलें। परिव्राजक ने उनकी बात मान ली।

स्टेशन मास्टर का अपना उत्तरदायित्व पूरा करने के बाद, जब उन्हें भक्तिपूर्वक इन अपरिचित संन्यासी के चरणों में बैठने का समय मिला, तो उन्होंने उन्हें एक बँगला गीत गाते सुना, जिसका तात्पर्य था – "यदि विद्या पाने की इच्छा हो, तो अपने चन्द्रमुख पर राख मलकर आओ।" उनका युवा भक्त तत्काल अदृश्य हो गया और अपने दफ्तर के पोशाक को उतारकर मुख पर राख लगाये लौट आया। हाथरस से विदा लेते समय स्वामी विवेकानन्द जिस ट्रेन में सवार हुए, उसी में वहाँ के भूतपूर्व स्टेशन मास्टर बैठे थे, जो बाद में स्वामी सदानन्द हुए। बाद के वर्षों में वे प्राय: कहा करते थे कि उन्होंने धर्मलाभ के लिये नहीं, अपितु 'उन नटखट आँखों' के आकर्षण में स्वामीजी का अनुसरण किया था।

इसके बाद सदानन्द का भ्रमण-जीवन आरम्भ हुआ। पैदल चलने की कठिनाइयों ने उन्हें बारम्बार अपने पूर्व जीवन की सुविधाओं की याद दिलाई होगी, परन्तु अपने भ्रमण-संगी का जादू उन पर ऐसा सवार था कि वे अपने शरीर की सुध-बुध ही भूल गये। उनके गुरु की स्नेहपूर्ण देखरेख ने उन्हें उनके पाँवों में पड़े फफोलों को भुला दिया। अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक सदानन्द इन दिनों की याद करते हुए भावविभोर हो उठते थे। वे रुँधे कण्ठ से कहा करते – "उन्होंने मेरे जूते तक अपने सिर पर ढोये हैं।"

वे धन्य और चिर अविस्मरणीय दिन थे। दोनों ही स्वभाव से कलाकार तथा कवि थे और दोनों ही देखने में बड़े आकर्षक थे। कलाकार उनकी अति प्रशंसा किया करते थे।

इसके बाद उन्होंने अपने उन दिनों की बातें बतायीं, जब वे हिमालय की गुफाओं में एकाकी रहकर अपने अन्तर में ही समाधान ढूँढ़ने का प्रयास कर रहे थे। परन्तु वे अधिक समय तक शान्ति तथा निर्जनता का उपभोग नहीं कर सके। जीवन का उलट-फेर उन्हें पुन: विचलित करके राजपुताना की मरुभूमि तथा पश्चिमी भारत के नगरों में ले गया। एकाकी रहने की तीव्र आवश्यकता का बोध होने के कारण इन दिनों उन्होंने जान-बूझकर अपने गुरुभाइयों से सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया था। काफी तलाश के बाद एक बार उनके एक गुरुभाई ने उन्हें मुम्बई प्रेसीडेंसी में कहीं घोड़ेगाड़ी में जाते हुए देखा। उन्होंने बताया था, "उनका चेहरा एक देवता की भाँति दमक रहा था। वह एक ब्रह्मज्ञानी का चेहरा था।" इन देखनेवाले ने बताया कि किस प्रकार वे अपने पूज्य गुरुभाई के पास पहुँचे, परन्तु स्नेहपूर्वक स्वागत करने के बावजूद उन्होंने उन्हें तत्काल वापस भेज दिया था।

कुछ दिनों तक स्वामीजी खेतड़ी में अतिथि होकर रहे, वहाँ के राजा उनके शिष्य बन गये। एक दिन जब वे दरबार में बैठे हुए थे, तभी एक नर्तकी आयी और कुछ गाने की तैयारी करने लगी। वे दरबार से उठकर जाने लगे। महाराजा बोले, "स्वामीजी, जरा ठहरिये, इस महिला के गाने में आपको कुछ भी अनुचित नहीं लगेगा, बल्कि उल्टे प्रसन्नता ही होगी।" स्वामीजी बैठ गये[२] और नर्तकी ने गाया –

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो,
पारस गुन अवगुन नहीं चितवे, कंचन करत खरो।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरो,
जब दोनों मिल एक बरन भये, सुरसरि नाम परो॥[३]

सुनकर युवा संन्यासी अवर्णनीय भाव से विभोर हो उठे और नर्तकी को आशीष दिया। उसने भी उसी दिन से अपना वह व्यवसाय त्यागकर ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग अपना लिया।

❖ (क्रमश:) ❖

१. स्वामी सदानन्द के मतानुसार वह प्रथम श्रेणी का डिब्बा था। (बँगला ग्रन्थ 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी', पृ. २९)

२. वस्तुत: स्वामीजी दरबार छोड़कर चले गये थे, पर भजन के शुद्ध भाव से आकृष्ट होकर लौट आये और अपनी भूल स्वीकार की। (प्र.)

३. 'सूर-सागर' में सूरदासजी के इस भजन की और भी दो पंक्तियाँ मिलती हैं – "इक माया इक ब्रह्म कहावत सूर-श्याम झगरो। अज्ञान से भेद होवे, ज्ञानी काहे भेद करो॥

बेलूड़ मठ में मानद विश्वविद्यालय के रूप में 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द शिक्षण तथा शोध संस्थान' का औपचारिक उद्‌घाटन

बेलूड़ मठ के विवेकानन्द सभागृह में ४ जुलाई २००५ को 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द शिक्षण तथा शोध संस्थान *(Ramakrishna Mission Vivekananda Educational and Research Institute – RKMVERI)* नाम से विवेकानन्द मानद विश्वविद्यालय का उद्‌घाटन सम्पन्न हुआ। समारोह का एक संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

स्वामी विवेकानन्द जी ने भविष्य-वाणी की थी कि बेलूड़ मठ क्रमश: एक सर्वांगीण विश्वविद्यालय के रूप में विकसित होगा। वस्तुत: अपनी महासमाधि के दो दिन पूर्व – २ जुलाई १९०२ को उन्होंने कहा था – **"इस बेलूड़ (मठ) में जो आध्यात्मिक शक्ति प्रकट हुई है, वह पन्द्रह सौ वर्षों तक बनी रहेगी – यह एक महान विश्वविद्यालय का रूप लेगा। ऐसा मत सोचना कि यह मेरी कल्पना है, मैं इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।"**

आशीर्वचन देते हुए स्वामी गहनानन्द जी महाराज

पिछली अनेक दशाब्दियों से रामकृष्ण-विवेकानन्द के अनुयाइयों-शिष्यों तथा प्रशंसकों के बीच इस बात को लेकर सश्रद्ध चर्चा, चिन्तन तथा बहस होती रही है कि भविष्यद्रष्टा स्वामीजी ने अपने दिव्य दर्शन में किस प्रकार का विश्वविद्यालय देखा था ! मनुष्य के सीमित मस्तिष्क से जितना समझा जा सकता था और जिस रूप में भी सम्भव हो सका, एक विश्वविद्यालय की स्थापना के विषय में स्वामीजी के दिव्य-दर्शन को कार्य रूप में परिणत करने के बारम्बार प्रयास हुए। १९६३ ई. में उनकी जन्म-शताब्दी के अवसर पर किये गये गम्भीर तथा वास्तविक प्रयास निष्फल रहे। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के तत्कालीन अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी माधवानन्द जी, महासचिव स्वामी वीरेश्वरानन्द जी और सारदापीठ, बेलूड़ के रामकृष्ण मिशन विद्यामन्दिर के सचिव स्वामी विमुक्तानन्द जी ने इस दिशा में अग्रदूत का कार्य किया। जब आशाएँ क्षीण होने लगीं, तब ऐसा प्रतीत होने लगा कि स्वामीजी की भविष्य-वाणी के रूपायित होने का शायद अभी समय नहीं आया है। इसी बीच पिछली कुछ दशाब्दियों के दौरान भारत में उच्च शिक्षा के स्वरूप में आमूल-चूल बदलाव आया और कई नयी धारणाएँ भी प्रकट हुई हैं। (१) आजीवन शिक्षा और (२) अशिक्षितों तक पहुँचना – इन दो सिद्धान्तों पर आधारित 'दूर-से-शिक्षा' और 'खुला विश्वविद्यालय' की धारणा ने पूरे विश्व में उच्च शिक्षा में क्रान्ति ला दी है।

रामकृष्ण-विवेकानन्द के अनुयाइयों ने महसूस किया कि ये धारणाएँ श्रीरामकृष्ण की इस उक्ति – "जब तक जीऊँ, तब तक सीखूँ" और स्वामी विवेकानन्द के इस कथन – "यदि पहाड़ मुहम्मद के पास न आये, तो मुहम्मद को ही पहाड़ के पास जाना होगा; यदि निर्धन लोग विद्यालयों में न आ सकें, तो शिक्षा को ही उनके खेत में, कारखाने में और सर्वत्र जाना होगा" की प्रतिध्वनि मात्र हैं।

इसके साथ ही यह भी महसूस किया गया कि स्वामीजी के नाम पर स्थापित होनेवाले विश्वविद्यालय में यह दूर-शिक्षा -प्रणाली भी एक अवयव होना चाहिये। संसदीय विधान के तहत एक अशासकीय विश्वविद्यालय शुरू करने में कानूनी अड़चनों के परिप्रेक्ष्य में रामकृष्ण मिशन के संचालकों ने आखिरकार विश्वविद्यालय-अनुदान-समिति (यू.जी.सी.) की धारा ३ के अन्तर्गत एक 'मानद-विश्वविद्यालय' आरम्भ करने का निर्णय लिया। यू.जी.सी. की सलाह पर ५ जनवरी २००५ को केन्द्र सरकार द्वारा जारी और बाद में सरकारी गजट में प्रकाशित एक अधिसूचना के माध्यम से मानव-संसाधन-मंत्रालय ने घोषणा की कि बेलूड़ मठ के मुख्यालय

में अपने केन्द्रीय प्रशासनिक कार्यालय और रामकृष्ण मिशन के विभिन्न शाखा-केन्द्रों में स्थित विशिष्ट प्रभागों के माध्यम से संचालित होनेवाला 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द शिक्षण तथा शोध संस्थान (*Ramakrishna Mission Vivekananda Educational and Research Institute* – RKMVERI*)*, एक Deemed – मानद विश्वविद्यालय होगा। इस प्रकार भारत में भौतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा के प्रसार को समर्पित स्वामी विवेकानन्द के पवित्र नाम पर यह पहला विश्वविद्यालय प्रारम्भ हुआ।

स्वागत-भाषण देते हुए स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज

स्वामीजी की महासमाधि की तिथि पर, जिस दिन स्वामीजी अपने शरीर को जीर्ण-शीर्ण वस्त्र के समान त्यागकर 'निराकार वाणी' के रूप में 'लोगों को सर्वत्र प्रेरणा-दान करने हेतु' चिर शान्ति में स्थित हो गये थे, उसी ४ जुलाई को इस विश्वविद्यालय का उद्घाटन सम्पन्न हुआ। और संयोगवश उच्च शिक्षा के क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन के प्रथम प्रयास – 'विद्या-मन्दिर' का स्थापना-दिवस भी ४ जुलाई ही है। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष पूज्य स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज ने इस समारोह की अध्यक्षता की और रामकृष्ण मठ तथा मिशन के परमाध्यक्ष पूज्य स्वामी गहनानन्दजी महाराज ने ज्ञान तथा विवेक की जागृति के प्रतीक – 'दीप' प्रज्वलित करके विश्वविद्यालय का उद्घाटन तथा विश्वविद्यालय के Concept Paper (परिकल्पना-पत्र) का विमोचन किया। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज ने आगन्तुकों का स्वागत किया। इस सभा में लगभग २०० संन्यासी तथा ब्रह्मचारी, करीब २५० छात्र और ३०० से भी अधिक शुभाकांक्षी, भक्त, तथा शिक्षाविद् उपस्थित थे।

दीप प्रज्वलित करते हुए परमाध्यक्ष स्वामी गहनानन्द जी

रामकृष्ण मठ तथा मिशन के परमाध्यक्ष पूज्य स्वामी गहनानन्दजी महाराज ने 'दीप' जलाकर विश्व-विद्यालय का उद्घाटन तथा विश्व-विद्यालय के Concept Paper (परिकल्पना-पत्र) का विमोचन करने के बाद कुछ आशीर्वचन कहे। महाराज ने बताया कि एक शताब्दी से भी अधिक काल पूर्व स्वामीजी ने बताया था कि संस्कृति तथा शिक्षा के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। "जहाँ कहीं कोई महान् संस्कृति है, वहाँ देखोगे कि उसके पीछे एक अति उन्नत शिक्षा-व्यवस्था विद्यमान है। शिक्षा की एक अद्भुत व्यवस्था विकसित कर पाने के कारण ही प्राचीन भारत एक महान् संस्कृति पैदा कर सका था।" उन्होंने कहा कि स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार मानवीय व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास ही शिक्षा का उद्देश्य है और धर्म तथा विज्ञान एक-दूसरे के विरोधी नहीं अपितु परिपूरक हैं।

मानव-संसाधन-विकास मंत्री श्री अर्जुन सिंह अस्वस्थता के कारण इस सभा में उपस्थित न हो सके थे। उनके प्रतिनिधि के रूप में उनका लिखित भाषण उसी विभाग के संयुक्त-सचिव श्री सुनील कुमार ने पढ़कर सुनाया। अपने भाषण में मंत्री महोदय ने बताया था कि स्वामी विवेकानन्दजी के जिस कार्य को पूरा करने के लिये रामकृष्ण मिशन एक शताब्दी से भी अधिक काल तक निरन्तर प्रयत्नशील रहा है, उसमें एक विनम्र भूमिका निभा पाने से वे बड़े सन्तोष का अनुभव कर रहे हैं। उनके भाषण में आगे लिखा था, "इस अवसर का उपयोग मैं अपने मंत्रालय के एक निर्णय की घोषणा करने के लिये भी करना चाहूँगा कि दसवीं योजना के दौरान इस मानद विश्वविद्यालय के लिये स्थायी संरचना के विकास हेतु यू.जी.सी. के माध्यम से दो करोड़ रुपये उपलब्ध कराये जायेंगे।" मंत्रीजी ने आगे कहा था कि न केवल अपना देश, अपितु पूरा विश्व ही रामकृष्ण मिशन के संरक्षण में खुल रहे इस नये विश्वविद्यालय से काफी कुछ उम्मीदें रखता है। उन्होंने यह कहते हुए मिशन के प्रयासों के प्रति महान् आशा व्यक्त की – "हम हृदय से आशा करते हैं कि मिशन निश्चित रूप से, अपनी परम्परा के अनुरूप, पूरे प्रयास के द्वारा, अपने नायक स्वामी विवेकानन्द के महान् नाम पर स्थापित इस विश्वविद्यालय को

महान् ऊँचाइयों तक पहुँचायेगा, कुशलता के नये स्तर प्राप्त करेगा और शिक्षा के क्षितिज पर एक नई परम्परा कायम करेगा।" (पूरा भाषण इस रिपोर्ट के अन्त में मुद्रित है।)

यू.जी.सी. (विश्वविद्यालय-अनुदान-समिति) के सचिव प्रोफेसर वेदप्रकाश ने इस अवसर पर बोलते हुए इस बात पर आनन्द व्यक्त किया कि वे इस महान् परियोजना की भ्रूणावस्था से ही इसके साथ सम्बद्ध रहे हैं। उन्होंने भावुकता के साथ 'उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उत्कृष्टता की उपलब्धि' के विषय पर काफी कुछ कहा। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा में ऐसा परिवर्तन लाने की विशेष जरूरत है, जिससे यह आम-आदमी के लिये हितकर हो सके और वर्तमान विश्वविद्यालय इसी लक्ष्य को प्राप्त करने में प्रयासरत है।

रामकृष्ण मिशन विद्यामन्दिर, बेलूड़ के कार्यकारी प्राचार्य स्वामी त्यागरूपानन्द ने हमारे उन महान् अग्रदूतों के प्रयासों के बारे में बताया, जिसके फलस्वरूप ४ जुलाई १९४१ को बेलूड़ मठ के पास विद्यामन्दिर नाम से एक आवासीय महाविद्यालय की स्थापना हुई। उन्होंने बताया कि विवेकानन्द विश्वविद्यालय उन दिनों भविष्य के गर्भ में था और विद्यामन्दिर की परिकल्पना मूलत: उसके नाभिक के रूप में हुई थी।

अध्यक्षीय भाषण देते हुए स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज

'विकलांगता व्यवस्थापन तथा विशेष शिक्षा' के कोयम्बटूर स्थित फैकल्टी के प्रशासकीय प्रमुख स्वामी आत्मारामानन्द जी महाराज और उसी विभाग के अवैतनिक डीन डॉ. एम.एन.जी. मनी ने जुलाई/अगस्त २००५ से कोयम्बटूर में शुरू होनेवाले इस 'विकलांगता व्यवस्थापन तथा विशेष शिक्षा' तथा अन्य विविध अकादमिक पाठ्यक्रमों पर संक्षेप में प्रकाश डाला।

अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने स्वामीजी के साहित्य से कई उद्धरण देते हुए उनकी शैक्षणिक परिकल्पना पर प्रकाश डाला। उनके द्वारा उद्धृत स्वामीजी के शक्तिदायी विचारों का श्रोताओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ। उनमें से कुछ उद्धरण निम्नलिखित थे – "पूर्णता मनुष्य में पहले से ही विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति को ही शिक्षा कहते हैं।", "शिक्षा का अर्थ तुम्हारे दिमाग में ठूँसी हुई ऐसी जानकारियों का ढेर नहीं है, जो आजीवन अनपची रहकर गड़बड़ी पैदा करती रहें। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र-गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम केवल पाँच ही विचारों को पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम एक पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ कर लेनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक शिक्षित हो।" "हम ऐसी शिक्षा चाहते हैं, जिससे चरित्र का निर्माण हो, मन की शक्ति में वृद्धि हो, बुद्धि का विस्तार हो और व्यक्ति अपने खुद के पाँवों पर खड़ा हो सके।"

नवगठित विश्वविद्यालय के कुलपति स्वामी आत्मप्रियानन्द ने सबके प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया। विद्यामन्दिर के छात्रों द्वारा गाये भजन के साथ कार्यक्रम का इस उद्घाटन समारोह का पटाक्षेप हुआ।

मानव-संसाधन-विकास-मंत्री श्री अर्जुन सिंह के लिखित भाषण का हिन्दी अनुवाद

विगत ४ जुलाई को बेलूड़ मठ (हावड़ा, पं. बंगाल) में सम्पन्न हुए उद्घाटन समारोह में मानव-संसाधन-विकास-मंत्री श्री अर्जुन सिंह का लिखित भाषण (जो उसी मंत्रालय के संयुक्त सचिव श्री सुनील कुमार द्वारा पढ़ा गया) –

"बेलूड़ मठ के पुनीत प्रांगण में स्थापित होनेवाले जिस विश्वविद्यालय की स्वामी विवेकानन्द जी ने परिकल्पना की थी, उसी के रूपायन हेतु इस 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द शिक्षण तथा शोध संस्थान *(Ramakrishna Mission Vivekananda Educational and Research Institute – RKMVERI)* नामक मानद विश्वविद्यालय के औपचारिक उद्घाटन समारोह में भाग लेते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इसी ४ जुलाई के दिन सौ साल से भी अधिक काल पूर्व महासमाधि लेने के बावजूद आज भी वे पूरे विश्व के सभी विचारवान तथा संवेदनशील लोगों को प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। स्वामीजी का भाव हमें अपना जीवन – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** – 'मानव-जाति की सेवा तथा अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये' समर्पित कर देने को प्रेरित करता है। स्वामीजी ने स्वयं ही घोषणा की है कि वे एक 'निराकार वाणी' हैं।

४ जुलाई १९०२ ई. को अपने देहत्याग के पूर्व स्वामीजी ने यह भी कहा था – "सम्भव है कि मैं इस शरीर को एक

जीर्ण-शीर्ण वस्त्र के समान छोड़ देना ही उचित समझूँ, परन्तु मैं कार्य करना बन्द नहीं करूँगा। मैं लोगों को तब तक प्रेरित करता रहूँगा, जब तक कि पूरी मानव-जाति परमात्मा के साथ अपने एकत्व की अनुभूति न कर ले।" इस दृष्टि से देखें, तो उनकी महासमाधि उनकी मृत्यु का दिवस नहीं, अपितु उस दिन वे पूरे विश्व के लोगों को निःस्वार्थता, सेवा, सामंजस्य, शान्ति तथा पवित्रता के गुणों में अनुप्राणित करने हेतु परम मौन में प्रतिष्ठित हो गये।

स्वामी विवेकानन्द के जीवनदायी तथा उन्नयनकारी सन्देश के ध्वजावाहक – रामकृष्ण मिशन के संन्यासीगण किसी विशेष समारोह के साथ उनकी महासमाधि का दिवस नहीं मनाते। तथापि, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, १९४१ ई. में इसी दिन बेलूड़ मठ में 'विद्या-मन्दिर' नाम से एक आवासीय महाविद्यालय की स्थापना करके, रामकृष्ण मिशन ने उच्च-शिक्षा के क्षेत्र में अपना प्रारम्भिक कदम रखा था। स्वामी विवेकानन्द जी ने स्वयं ही 'विद्या-मन्दिर' की परिकल्पना की थी और वस्तुतः यह 'विद्या-मन्दिर' नाम भी उन्होंने स्वयं ही दिया था। उपरोक्त प्रयास अब एक मानद विश्वविद्यालय स्तर की एक संस्था में परिणत हुआ है और स्वामी विवेकानन्द जी के नाम पर पहली बार ऐसा हुआ है।

श्री सुनील कुमार द्वारा मानव संसाधन मंत्री का भाषण-पाठ

स्वामी विवेकानन्द जी के जिस परियोजना को रूपायित करने हेतु रामकृष्ण मिशन निरन्तर एक शताब्दी तक प्रयत्नशील रहा है, मेरा अहोभाग्य है कि उसमें मुझे भी एक छोटी-सी भूमिका निभाने का अवसर मिला है और इसके लिये मैं अपने हृदय से सन्तोष प्रकट करता हूँ। इस अवसर का उपयोग मैं अपने मंत्रालय के एक निर्णय की घोषणा करने के लिये भी करना चाहूँगा कि दसवीं योजना के दौरान इस मानद विश्वविद्यालय के लिये स्थायी संरचना के विकास हेतु यू.जी.सी. के माध्यम से दो करोड़ रुपये उपलब्ध कराये जायेंगे।

स्वामी विवेकानन्द जी ने परिकल्पना की थी कि बेलूड़ मठ, न केवल समस्त धार्मिक मतों व परम्पराओं के, अपितु कलाओं तथा विज्ञानों के और भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के समन्वय तथा सामंजस्य का एक केन्द्र बनेगा। यह आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक जागृति का एक महान केन्द्र बनेगा। वस्तुतः **अपनी महासमाधि के केवल दो दिन पूर्व – २ जुलाई १९०२ को, बेलूड़ मठ के प्रांगण में खड़े होकर उन्होंने भविष्यवाणी की थी – "इस बेलूड़ (मठ) में जो आध्यात्मिक शक्ति प्रकट हुई है, वह डेढ़ हजार वर्षों तक बनी रहेगी – यह एक महान विश्वविद्यालय का रूप लेगा। ऐसा मत सोचना कि यह मेरी कल्पना है, मैं इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।"** स्वामीजी का वह दिव्य-दर्शन अब एक वास्तविकता में परिणत हो गया है। पिछली अनेक दशाब्दियों से स्वामीजी के अनुयाइयों के बीच इस बात को लेकर चर्चा, सश्रद्ध चिन्तन तथा बहस होती रही है कि स्वामीजी ने किस तरह के विश्वविद्यालय की परिकल्पना की थी? सर्वविदित है कि स्वामीजी चाहते थे कि अपरा विद्या को परा विद्या से जोड़कर, आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति तथा प्राचीन वेदान्तिक बोध के सामंजस्य के द्वारा एक सर्वांगीण ज्ञान की स्थापना हो। आधुनिक विज्ञान को प्राचीन वेदान्त के साथ समन्वित करने के सतही प्रयासों से, और विशेषकर वेदान्तिक सिद्धान्तों को स्वीकार्य बनाने के लिये उन्हें छद्म-वैज्ञानिक अथवा अर्ध-वैज्ञानिक शब्दावली में प्रस्तुत करने से यह मुद्दा महत्त्वहीन हो जाता है। अब अधिकांश लोग यह जानते हैं कि आइंस्टीन जैसे कुछ प्रमुख वैज्ञानिकों ने अपनी मूलभूत वैज्ञानिक जिज्ञासा तथा शोधकार्य के प्रेरणा के रूप में एक निराकार तथा अतीन्द्रिय आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त होने की बात कही थी। मुझे बताया गया है कि यह संस्था प्रारम्भ से ही विषयों के पारस्परिक संयोग से शिक्षा में कुछ नये आयाम जोड़ने का प्रयास करेगी, यथा –

(१) विकलांगता व्यवस्थापन तथा विशेष शिक्षा

(२) सर्वांगीण ग्रामीण विकास, जिसमें आदिवासी क्षेत्रों का विकास भी सम्मिलित होगा

(३) भारतीय आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विरासत और आदर्श शिक्षा

(४) आपदा-प्रबन्धन, जिसमें राहत और पुनर्वास भी सम्मिलित होगा

जहाँ तक मैं समझता हूँ, प्रारम्भिक वर्षों में यह विश्वविद्यालय केवल तीन क्षेत्रों में ही अपना कार्य आरम्भ करेगा – (१)

विकलांगता व्यवस्थापन तथा विशेष शिक्षा, (२) सर्वांगीण ग्रामीण विकास, जिसमें आदिवासी क्षेत्रों का विकास भी सम्मिलित होगा और (३) भारतीय आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विरासत और आदर्श शिक्षा।

हमारा विश्वास है कि *रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द शिक्षण तथा शोध संस्थान,* भौतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा के प्रकाश का विस्तार करते हुए सभी स्तरों पर अज्ञान को दूर करेगा। स्वामी विवेकानन्द की आध्यात्मिक सेना के सिपाही – रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन के समर्पित संन्यासी, उस ज्ञान की मशाल को आगे ले जाने के कार्य को सर्वदा अपना पुनीत कर्तव्य समझते रहे हैं, जिसे उनके सुप्रसिद्ध नायक ने बेलूड़ मठ के इस पवित्र प्रांगण में प्रज्वलित किया था, ताकि धरती को निराशा तथा अज्ञान के ढँकनेवाले काले बादल छँट जायँ और ज्ञान तथा आनन्द का सूर्य अपने सशक्त किरणों के द्वारा पृथ्वी को आप्लावित कर दे।

केवल अपना देश ही नहीं, पूरा विश्व ही रामकृष्ण मिशन के संरक्षण में खुल रहे इस नये विश्वविद्यालय से काफी कुछ उम्मीदें रखता है। हमारी यह हार्दिक आशा है कि मिशन निश्चित रूप से, अपनी परम्परा के अनुरूप, पूरे प्रयास से अपने नायक स्वामी विवेकानन्द के महान् नाम पर स्थापित इस विश्वविद्यालय को महान् ऊँचाइयों तक पहुँचायेगा, कुशलता के नये स्तर प्राप्त करेगा और शिक्षा के क्षितिज पर एक नई परम्परा कायम करेगा। जीवन के प्रति सामान्य प्रचलित दृष्टिकोण के प्रति स्वामीजी की चिर अरुचि थी और उसे त्यागते हुए उन्होंने कहा था कि हम अपने ज्ञान तथा विवेक की खोज में पुराने जड़ीभूत परम्पराओं को विच्छिन्न करते हुए और नये क्रियाशील क्षेत्रों की तलाश करते हुए आगे बढ़ते रहें। आज की चुनौतियाँ भयावह हैं। वैश्वीकरण जीवन तथा शिक्षा के प्रति हमारे पूरे दृष्टिकोण को ही बदल रहा है। स्वामीजी के इन प्रेरणादायी शब्दों की सहायता से ही Liberalization-privatization-globalization (LPG) (मुक्तीकरण-वैयक्तिकीकरण-भूमण्डलीकरण) के चिर-परिवर्तनशील अज्ञात समुद्र में हमारी यात्रा सफलतापूर्वक पूरी हो सकेगी – "उठो, जागो और लक्ष्य तक पहुँचे बिना ठहरो मत।"

*** *** ***

स्वामी विवेकानन्दजी के पैतृक भवन में ४ जुलाई २००५ को विवेकानन्द मूलभूत विज्ञान तथा दर्शन संस्थान के अन्तर्गत 'विवेकानन्द-शोध-केन्द्र' के उद्‌घाटन समारोह की संक्षिप्त रिपोर्ट

स्वामी विवेकानन्द चाहते थे कि भारतीय मानस, अपनी गहन धार्मिक तथा आध्यात्मिक परम्पराओं में पगे रहते हुए भी, एक गहन वैज्ञानिक मनोभाव विकसित करे, वे चाहते थे कि धार्मिक आस्था तथा उत्साह को सहज भाव से बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ संयोजित किया जाय। विज्ञान तथा धर्म – इन्द्रिय-ग्राह्य बाह्य जगत् में शोध करनेवाले बाह्य विज्ञान और जीवात्मा के आन्तरिक जगत् में शोध करनेवाले आन्तरिक विज्ञान का समन्वय उनका एक प्रिय स्वप्न था। उन्होंने कहा था कि 'विज्ञान तथा धर्म हाथ मिलायेंगे' और 'कविता तथा दर्शन मित्र हो जायेंगे'। इसके अतिरिक्त स्वामीजी भारत में मूलभूत विज्ञान का शोध आरम्भ करनेवाले अग्रदूतों में एक थे। १८९३ ई. में ही उन्होंने जमशेदजी टाटा को भारत में एक 'विज्ञान-संस्थान' आरम्भ करने को प्रेरित किया। यह प्रेरणा बाद में बैंगलोर के सुप्रसिद्ध 'भारतीय विज्ञान संस्थान' के रूप में साकार हुई। टाटा ने स्वामीजी से इसका प्रथम निदेशक या कुलपति बनने का अनुरोध किया था। स्वामीजी ने इस पद को स्वीकार करने से मना कर दिया, परन्तु इस प्रकार भारत में मूलभूत विज्ञान के क्षेत्र में शोध-कार्य का श्रीगणेश हुआ।

कोयम्बटूर फैकल्टी के स्वामी आत्मारामानन्दजी महाराज

इस तथ्य के आलोक में सद्य: स्थापित मानद विश्वविद्यालय – 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द शिक्षण तथा शोध संस्थान *(Ramakrishna Mission Vivekananda Educational and Research Institute – RKMVERI)* की संचालक-समिति ने एक 'विवेकानन्द मूलभूत विज्ञान व दर्शन संस्थान' स्थापित करने का प्रस्ताव पास किया। 'विवेकानन्द-शोध-केन्द्र' उसी के अन्तर्गत कार्य करेगा। प्रारम्भ में यह मुख्यत: कोलकाता में स्थित रामकृष्ण मिशन की एक शाखा और स्वामीजी के जन्म से धन्य – 'स्वामी विवेकानन्द का पैतृक भवन तथा सांस्कृतिक केन्द्र' से संचालित होगा।

४ जुलाई २००५ ई. को एक संक्षिप्त तथा भव्य समारोह में रामकृष्ण मठ व मिशन के उपाध्यक्ष पूज्य स्वामी

गीतानन्दजी महाराज ने इस शोध-केन्द्र का उद्घाटन किया। इस शाखा के सचिव स्वामी जितात्मानन्दजी ने आगन्तुकों का स्वागत किया और बड़े भावपूर्ण शब्दों में बताया कि 'विज्ञान तथा अध्यात्म का समन्वय' स्वामीजी का एक स्वप्न था। महासचिव स्वामी स्मरणानन्दजी के एक संक्षिप्त व्याख्यान के उपरान्त स्वामी प्रभानन्दजी ने किंचित् विस्तारपूर्वक बोलते हुए बेलूड़ मठ में स्वामीजी द्वारा परिकल्पित विश्वविद्यालय के विषय में कुछ नया प्रकाश डाला और कुछ मौलिक विचार प्रस्तुत किये। इस मानद विश्वविद्यालय के कुलपति स्वामी आत्मप्रियानन्दजी ने संक्षेप में बताया कि इस केन्द्र द्वारा प्रारम्भ किये जानेवाले मूलभूत विज्ञान के क्षेत्र होंगे – शुद्ध गणित, सैद्धान्तिक भौतिकी तथा सैद्धान्तिक कम्प्यूटर विज्ञान। उन्होंने आशा व्यक्त की कि रामकृष्ण संघ के कुछ समर्पित तथा मेधावी संन्यासियों के निर्देशन में इन क्षेत्रों में शोध-कार्य के फलस्वरूप इस केन्द्र से मौलिक विचारों का प्रवाह नि:सृत होता रहेगा। इसमें वैदिक विज्ञान पर भी शोध-कार्य शुरू किया जायेगा, जिसमें वैदिक गणित प्रारम्भिक केन्द्र-बिन्दु होगा और इसके लिये कुछ लोग आर्थिक सहयोग भी देने को उत्सुक हैं। अन्य प्रस्तावित क्षेत्र हैं – रामकृष्ण-विवेकानन्द-दर्शन, सभी धर्मों की मूलभूत एकता, स्वामी विवेकानन्द की सार्वभौमिक धर्म की अवधारणा, विज्ञान तथा धर्म की मूलभूत एकता, वेदान्त – मनुष्य में निहित अनन्त सम्भावनाओं का विज्ञान, चेतना पर अध्ययन, नीतिशास्त्र तथा विकास (विशेषकर हाल ही में प्रोफेसर अमर्त्य सेन द्वारा विकसित मानवीय-विकास-तालिका की अवधारणा) का अध्ययन, रामकृष्ण-विवेकानन्द की समन्वय तथा सार्वभौमिकता की विचारधारा के आलोक में भारतीय दर्शन, अनुवाद-अध्ययन भी शोध के लिये अपनाया जानेवाला एक नव उदीयमान क्षेत्र होगा।

धन्यवाद ज्ञापित करते हुए कुलपति स्वामी आत्मप्रियानन्दजी

चूँकि मानव-संसाधन-विकास मंत्री श्री अर्जुन सिंह अस्वस्थ होने के कारण इस कार्यक्रम में उपस्थित न हो सके थे, अत: उनका लिखित भाषण उसी विभाग के संयुक्त-सचिव श्री सुनील कुमार ने पढ़कर सुनाया। अपने भाषण में मंत्रीजी ने इस अभिनव विश्वविद्यालय के शोध-केन्द्र से सम्बद्ध होने के लिये अपनी प्रसन्नता व्यक्त की थी। उन्होंने कहा था – "मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि यह मानद विश्वविद्यालय RKMVERI अपने *'विवेकानन्द मूलभूत विज्ञान तथा दर्शन-संस्थान'* के अन्तर्गत *'विवेकानन्द शोध-केन्द्र'* आरम्भ कर रहा है। ऐसे शोध-केन्द्र के लिए कोलकाता के इस महान् स्थान – स्वामी विवेकानन्द के पैतृक आवास तथा जन्म स्थान से अच्छा अन्य कौन-सा स्थान हो सकता है!

"आज सम्पूर्ण विश्व में भौतिकी, जीवविज्ञान तथा कम्प्यूटर साईंस का विस्तार हो रहा है और इसके फलस्वरूप सर्वत्र लोगों के जागतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। परन्तु 'मानवीय विज्ञानों' के एक समुचित, व्यवस्थित तथा यौक्तिक अध्ययन तथा प्रसार का प्रयास शायद ही कहीं किया जाता है। इसके फलस्वरूप एक ऐसी एकांगी या केन्द्रहीन शिक्षा-व्यवस्था का विकास हुआ है, जिसमें आध्यात्मिक तथा आदर्श विचारों पर समुचित ध्यान दिये बिना, या बल्कि उन्हें नकार कर, मानवीय विचारों के केवल बौद्धिक तथा वैज्ञानिक उत्कृष्टता के विकास पर ही ध्यान दिया जा रहा है। इसके फलस्वरूप लोगों में निराशा, मानसिक विकृति, असामाजिक आचरण, आत्महत्या तथा अन्य अनेक सामाजिक व्याधियों की वृद्धि हो रही है।

"मेरा विश्वास है कि स्वामी विवेकानन्द के जन्म-स्थान में स्थापित यह *'विवेकानन्द मूलभूत विज्ञान तथा दर्शन संस्थान'* तथा *'विवेकानन्द शोध-केन्द्र'* विज्ञान तथा दर्शन, ज्ञान तथा विवेक – 'बाह्य उत्कृष्टता के ज्ञान के साथ आन्तरिक उत्कृष्टता के विवेक के समन्वय' के स्वामीजी के स्वप्न को पूरा करेगा। इसके बाद यू.जी.सी. के सचिव प्रोफेसर वेदप्रकाश ने शोध-क्षेत्र में उत्कृष्टता की नवीनतर ऊँचाइयों की उपलब्धि के बारे में संक्षिप्त वक्तव्य देते हुए आशा व्यक्त की कि *'विवेकानन्द शोध-केन्द्र'* में उच्च कोटि का शोध सम्पन्न होगा।

पूज्य स्वामी गीतानन्दजी महाराज ने अपने अध्यक्षीय व्याख्यान में विश्वविद्यालय के 'कान्सेप्ट पेपर' (परिकल्पना-पत्र) से उद्धरण देते हुए इस केन्द्र के शोध के मुख्य उद्देश्य पर बल दिया। उन्होंने इस केन्द्र के उद्घाटन-समारोह में भाग ले पाने के लिये आनन्द प्रकट किया। रामकृष्ण मठ, चेन्नै के अध्यक्ष स्वामी गौतमानन्द के द्वारा हार्दिक धन्यवाद प्रस्ताव के साथ सभा का उपसंहार हुआ। ***